मृत्यु की मंगल यात्रा

लेखक

मुनिश्री रत्नसेन विजयजी

मृत्यु की मंगल यात्रा

卐

लेखक

जिनशासन के अजोड़ प्रभावक सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. के शिष्यरत्न अध्यात्मयोगी
निःस्पृहशिरोमणि परमाराध्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी**
गणिवर्य के चरम शिष्यरत्न

मुनिश्री रत्नसेन विजयजी

卐

प्रकाशक

स्वाध्याय संघ
C/o Indian Drawing Equipment Industries
Shed No. 2 Sidco Industrial Estate
Ambattur—Madras-600 098

पुस्तक का नाम : मृत्यु की मंगल यात्रा
आशीर्वाददाता : सौजन्यमूर्ति पूज्यपाद आचार्यदेव
श्री प्रद्योतन सूरीश्वरजी म.सा.
चिन्तनयात्रा : पूज्यपाद आचार्यप्रवर श्री पद्मसागर सूरीश्वरजी म. सा.
प्रस्तावना : श्री राघवप्रसाद पाण्डेय
आवृत्ति : प्रथम मूल्य : नौ रुपये, ९.०० रु.
प्रकाशन-तिथि : मगसर सुद १३, संवत् २०४५ दि. २१-१२-८८

卐 प्राप्ति-स्थान 卐

1. Shantilal D. Jain Phone : (1) 654465
C/o Indian Drawing Equipment (2) 653608
Industries; Shed No. 2
Sidco Industrial Estate
Ambattur—Madras–600 098

२. दुर्लभ डी. जैन Phone : 227851
C/o Indian Drawing Equipment Industries
214, Shri Venkatesware Market
Avenue Road, Banglore–560 002

3. A.V. Shah & Co. (C A.) Phone : 344798
408, Arihant, 4th Floor, Ahmedabad street
Iron Market—Bombay–400 009

४. कांतिलाल मुणत
106, रामगढ़, आयुर्वेदिक हॉस्पिटल के पास,
रतलाम (M.P.) 457 001

5. Motilal Banarsidas
40 U.A. Bungalow Road, Jawaharnagar,
New Delhi–11

६. कनकराज पालरेचा Phone : 129
C/o गंगाराम मुलतानमल
At रानी, Dist. पाली (राज.) Pin-306 115

७. छगनराजजी गेनमलजी चोपड़ा Phone : 97
खाड़ियों का बास, At बाली, St. फालना (राज.) 306 701

प्रकाशक की कलम से.....

परम पूज्य परमाराध्यपाद वात्सल्यनिधि करुणावतार गुरुदेव पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री के चरम शिष्यरत्न मुनिप्रवर श्री रत्नसेन विजयजी म. द्वारा आलेखित **'मृत्यु की मंगल यात्रा'** पुस्तक का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त ही हर्ष हो रहा है।

किसी पूर्वाचार्य महर्षि की यह सूक्ति याद आ जाती है—**'मरणं मंगलं यस्य, सफलं जीवनं तस्य'**। जिसकी मृत्यु मंगल रूप है, उसका जीवन सफल है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जीवन की सफलता का आधार मृत्यु की मंगलता पर रहा हुआ है।

मृत्यु को मंगलरूप/महोत्सवरूप बनाने के लिए जीवन को समाधिमय बनाना अनिवार्य है। जीवन को समाधिमय बनाना सबसे बड़ी साधना है। जीवन में आने वाले कर्मजन्य सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता और उतार-चढ़ाव के बीच जो मध्यस्थ/तटस्थ रहना सीख लेता है, वह मृत्यु की असीम वेदना में भी समाधि भाव प्राप्त कर सकता है।

प्रस्तुत कृति में मृत्यु को मंगलरूप बनाने के सुन्दर उपाय बतलाए हैं। लेख, निबन्ध, कथा, वार्ता, बातचीत, विवेचन आदि के साथ-साथ पत्र-आलेखन के द्वारा भी पाठकों को सन्मार्ग दर्शन दिया जा सकता है।

प्रस्तुत कृति में लेखक द्वारा लिखे गए १९ पत्रों का सुन्दर संकलन प्रस्तुत किया गया है। इस पत्र-शैली के अन्तर्गत ही लेखक की एक अन्य रचना "जीवन की मंगल यात्रा" को भी निकट भविष्य में प्रकाशित करने की भावना है।

लेखक की अन्य कृतियों की भाँति प्रस्तुत कृति भी पाठकों के जीवन-निर्माण में अवश्य योग देने वाली सिद्ध होगी, इसी आशा और विश्वास के साथ—

—प्रकाशक

समर्पण

जिनशासन के अगम रहस्यों को प्राप्त कर
जिन्होंने आत्म-साधना के बल से
अपने जीवन को धन्य बनाया
और
स्व-पर उपकार की सरिता को
बहाते हुए
अत्यन्त समाधिभाव से
जिन्होंने
'मृत्यु की मंगल यात्रा' के लिए
प्रयाण कर दिया, ऐसे स्वनामधन्य
परमाराध्यपाद
वात्सल्य के महासागर
अध्यात्म योगी
नमस्कार महामंत्र के महान् साधक
पूज्यपाद गुरुदेव
पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री** की
परम-श्रेष्ठ आत्मा को
सादर-सविनय-सबहुमान समर्पित—

—रत्नसेन विजय

परम पूज्य

अध्यात्मयोगी सूक्ष्मतत्त्वचिन्तक

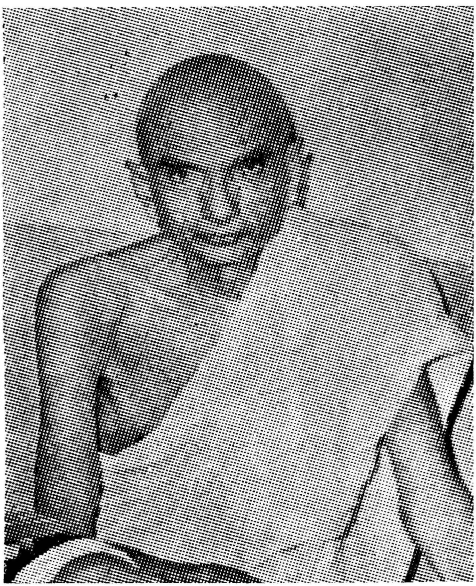

पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजय जी गणिवर्य

भावना को जन्म देता है और उस हर क्षण
में मौत के दर्शन होते हैं.

—जानकार के लिये जीवन एक अद्‌भुत, अनोखी, अद्वितीय, अनुपम कलाकृति है, जिसका प्रारम्भ जन्म से और अन्त मृत्यु से होता है.

—विद्वान् मुनिश्री रत्नसेन विजयजी महाराज द्वारा आलेखित **'मृत्यु की मंगल यात्रा'** अपने नाम के अनुरूप ही सुयोग्य कृति है।

—इस कृति का स्वाध्याय कर पाठक वृन्द अपनी मृत्यु को मंगल यात्रा में परिवर्तित करें, यही शुभेच्छा।

मृत्यु की ओर.....

मानव जानता है कि इस असार संसार में व्याधि-वेदना प्रचुर मात्रा में है ; तदपि वह अपनी इस जानकारी को मात्र सैद्धान्तिक क्षेत्र तक ही सीमित रखता है। व्यवहार में तो वह अपनी दृष्टि शरीर के अस्तित्व से आगे नहीं बढ़ा पाता। वे भाग्यशाली अत्यल्प संख्या में होते हैं जिन्हें आत्मा के अस्तित्व की सघन अनुभूति होती है। आत्मानुभूति का अर्थ ही है– शरीर के लगाव में कमी लाना, शरीर को मात्र एक ऐसा वाहन मानना जिस पर बैठ कर लक्ष्य-प्राप्ति की लम्बी यात्रा की जा सकती है। ऐसी दशा में शरीर की इतनी ही उपयोगिता समझ में आती है जितनी एक माली की उद्यान के लिए और एक पुजारी की देवालय के लिए होती है। माली का दूसरे उद्यान और पुजारी का दूसरे देवालय में स्थानान्तरण कर दिया जाए तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं होती किन्तु आज का मानव अपनी काया के स्वास्थ्य, सौन्दर्य और अलंकरण की चिन्ता में जीवन-पर्यन्त अहोरात्र निमग्न रहता है और सांसारिक सुख-सुविधाओं में लिपट कर भूल जाता है —

कौन कहे सब छोड़ चलेगा,
मौत थाम लेगी जब कर दो,
जीवन में जो लिया मरण में,
ले चलना होगा उन सबको।

मृत्यु ! सामान्य रूप से एक ऐसा शब्द है जिसके नामोच्चार को हम अशुभ का पर्याय मानते हैं। लगता है, कहीं कुछ उजड़ गया है; बिखर गया है; गरम-गरम साँसों और आँसुओं का सैलाब उमड़ पड़ता है। रोना-पीटना, चीखना-चिल्लाना मृत्यु को दर्दनाक, कष्टप्रद और भयानक

पूज्य पिताश्री रूपचंदजी अन्नाजी राठौड़

फूलीबाई अन्नराजजी राठौड़ के उद्यापन महोत्सव निमित्त यह पुस्तक प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है ।

निवेदक :

सोहनराज, चन्दनमल, बस्तीमल
कान्तिलाल राठौड़ सेवाड़ी वाले (भांडुप-बम्बई)

बना देता है किन्तु जब हम अपना लक्ष्य 'आत्मा से परमात्मा' भली-भाँति जान लेते हैं तब मृत्यु की बात अनहोनी नहीं लगती, कोई भय नहीं पैदा करती क्योंकि उस समय हम जानते हैं कि यह तो सृष्टि-चक्र का एक क्रम है, जो फल लगे हैं उन्हें एक-न-एक दिन पक कर गिरना ही है, जो दीपक जले उन्हें समाप्त होने पर बुझना ही है। आत्मा की शाश्वतता और शरीर की नश्वरता समझ लेने पर गीता में कही गई भगवान श्रीकृष्ण की आत्मा-विषयक यह बात सत्य जान पड़ती है —

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा —
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

"जिस प्रकार मानव पुराने वस्त्रों को छोड़कर नए वस्त्र धारण करता है उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नूतन शरीर को धारण करती है।"

इससे भी आगे जब मानव जान लेता है कि 'आत्मा और परमात्मा एक हैं, जो अन्तर है वह औपाधिक है; बाह्य कारणों से पैदा हुआ है और वे बाह्य कारण कर्म ही हैं। आत्मा कर्म रूपी आवरणों से ढकी हुई है और परमात्मा आवरणों से अतीत, तब वह कह उठता है—

"सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अणंतणाणादि-गुण-समिद्धोऽहं ।"

—मेरी आत्मा सिद्ध है, शुद्ध है, अनन्त ज्ञान आदि गुणों से युक्त है।

कर्मों का आवरण दूर होने पर 'तत्त्वमसि' अथवा 'एगे आया' का बोध होता है तथा आत्मा परमात्मा बन जाती है। कर्मों का आवरण

दूर होना और परमात्म पद पाना स्वयं में एक अनिर्वचनीय अद्भुत आनन्द का सूचक है तब भला मृत्यु की बात कष्टप्रद और अमंगलसूचक कहाँ रही ? मृत्यु तो एक सहज स्वाभाविक शरीर-त्याग की प्रक्रिया मात्र है, उस मंगल यात्रा के लिए जो उस गन्तव्य पर समाप्त होती है जिसके आगे चलना शेष नहीं रहता।

हमें शरीर, आत्मा, परमात्मा, जीवन, मृत्यु और संसार की वास्तविकता से परिचित कराती मुनिश्री रत्नसेन विजय जी म० सा० द्वारा विरचित पुस्तक "मृत्यु की मंगल यात्रा" पाठक का अन्तर्मन आलोकित करती अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाती है।

आपश्री ने एक शास्त्र-सम्मत तथ्य को विभिन्न उदाहरणों, उद्धरणों एवं रूपकों के माध्यम से अत्यन्त सरल, सुबोध किन्तु सारगर्भित भाषा में प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत पुस्तक से ही उदधृत एक शेर—

न गाती है न गुनगुनाती है।
मौत जब आती है, चुपके से चली आती है॥

से मृत्यु के आकस्मिक आगमन को प्रमाणित किया है तो दूसरी ओर महाराजा साहब ने "नाऽहं मृत्योर्बिभेमि" का निडर निनाद भी किया है। मुनि गजसुकुमाल, महात्मा सिंह, अर्णिकापुत्र आचार्य के जीवन-प्रसंग द्वारा यह प्रमाणित किया गया है कि मृत्यु में समाधि का भाव रखने पर किसी प्रकार के कष्ट की अनुभूति नहीं होती।

विभिन्न शिक्षाप्रद प्रेरक पत्रों के बीच वे स्थल अपने स्वाभाविक निरूपण के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं सटीक जान पड़ते हैं जहाँ कहा गया है—

'मृत्यु कोई दुःख-मुक्ति का उपाय नहीं है।'

"यदि व्यक्ति के असाता वेदनीय का ही जोर हो तो वह मर कर भी ऐसी योनि/गति में पैदा होता है जहाँ वर्तमान से भी अधिक दुःख होता है.... आयुष्यकर्म के बन्ध के अनुसार हमें परलोक में जन्म लेना पड़ता है....।"

"सम्बन्ध का टूटना अलग बात हैं और ममत्व का त्याग अलग बात है। दुनिया से सम्बन्ध तोड़ने के बावजूद भी यदि हृदय से ममता का त्याग/विसर्जन न हो तो उस ममत्व के कारण सतत कर्मबन्ध चालू ही रहता है।"

'दीपक'! एक ऐसा सम्बोधन है जो सिर्फ एक मुट्ठी भर धूल का बना है और वह धूल भी कैसी? जो बस, एक ठोकर में टुकड़े-टुकड़े हो जाने वाली है। लेकिन जब हम सारी आशाएँ खो बैठते हैं, भयावनी रात में दिशा भूल कर भटक जाते हैं तब कहीं से दिखाई देती मद्धिम सी रोशनी वाला दीपक हममें प्राणों का संचार कर डालता है।

जब कभी पाठक प्रस्तुत पुस्तक का अध्ययन करेगा और गहरे कहीं आत्मानुभव तक उतरेगा तब पायेगा कि दीपक सम्बोधन कितना मर्मस्पर्शी और सार्थक है। प्रत्येक पाठक को ऐसा जान पड़ेगा कि वही दीपक है, उसे ही सम्बोधित कर सारी बातें कही जा रही हैं।

सच लिखूं तो इस पुस्तक का सर्वाधिक सशक्त पक्ष इसकी पत्रात्मक शैली ही है।

मैंने पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ा है और पाया है कि जो भी इस प्रस्तावना में लिखा गया है मात्र उतने से पुस्तक का सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता, तदपि यथाशक्य पुस्तक के मूल भाव को प्रतिबिम्बित करने का प्रयास मैंने किया है।

प. पू. महाराज श्री रत्नसेन विजयजी का यह कोई प्रथम प्रयास नहीं है। आप एक प्रवर विचारक, लेखक और सन्मार्गोपदेष्टा हैं। आपकी लेखनी अबाध गति से चलती ही रहती है। अभी तक २५ पुष्प सुधी पाठकों के आत्मकल्याणार्थ प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तक इस भौतिकवादी युग में मानव के लिए दीपस्तम्भ के समान है।

महावीर शिक्षा संस्थान
रानी, जिला-पाली

—राघवप्रसाद पाण्डेय
साहित्याचार्य, एम.ए.बी.एड.

लेखक की कलम से

मृत्यु की मंगल यात्रा

आत्म-चिन्तन के अथाह सागर में
अवगाहन करने वाले किसी पूर्वाचार्य महर्षि ने
कहा है—'हे बाल !
तू मरण से क्यों भयभीत होता है ?
वह भयभीत को छोड़ने वाला नहीं है ।
जो अजन्मा बन गया, उसे पकड़ने वाला नहीं है.
अत: अजन्मा बनने के लिए प्रयत्न कर ।'
उपर्युक्त चिन्तन में हमें मृत्यु की शक्ति का
परिचय मिलता है ।
मृत्यु उसी पर अपना प्रहार करती है,
जिसने जन्म धारण किया है ।
ठीक ही कहा है—
'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'
'जन्म धारण करने वाले की मृत्यु निश्चित है ।'
हाँ !
जिसने आत्मा की अमरता पा ली है,
उसे मृत्यु डरा नहीं सकती ।
उसे मृत्यु हरा नहीं सकती ।
एक बार भगवान महावीर को गौतम स्वामी ने पूछा—
'भगवन्त ! प्राणी को मरना क्यों पड़ता है ?'
प्रभु ने कहा, 'हे गौतम ! क्योंकि उसने जन्म धारण किया है ।'

'हे भगवन्त ! प्राणी जन्म धारण क्यों करता है ?'
प्रभु ने कहा–'हे गौतम ! कर्म के कारण आत्मा को जन्म धारण करना पड़ता है।'
'हे भगवन्त ! आत्मा को कर्मबन्धन क्यों है ?'
'हे गौतम ! राग-द्वेष की परिणति के कारण ही आत्मा कर्म का बन्ध करती है।'
प्रस्तुत वार्तालाप से स्पष्ट है कि—
राग-द्वेष से कर्मबन्ध होता है।
कर्मबन्ध से आत्मा देह धारण करती है और
देह धारण करने वाले की मृत्यु होती है।
सारांश यही है कि—
जन्म-मृत्यु का मूलभूत कारण तो
राग-द्वेष ही है।
जो आत्मा राग-द्वेष से मुक्त बन गई,
वह आत्मा कर्मबन्धन से मुक्त हो जाएगी और
कर्मबन्धन से मुक्त आत्मा को जन्म धारण करना नहीं पड़ता है।
इसलिए
इस मनुष्य जीवन में
हमारा सारा प्रयत्न और पुरुषार्थ
अजन्मा बनने की साधना के लिए ही होना चाहिये
और
उस साधना के लिए हमें
राग-द्वेष की परिणति को मन्द करना होगा।
अनुकूलता/सुख में राग नहीं।
प्रतिकूलता/दुःख में द्वेष नहीं।
ज्यों-ज्यों जीवन-व्यवहार में

राग-द्वेष की तीव्रता कम होती जाएगी
त्यों-त्यों हमें आत्मिक आनन्द की अनुभूति
होती जाएगी
और
उस आनन्द की प्राप्ति के बाद
मृत्यु का हमें कोई भय नहीं रहेगा।
मृत्यु का हम स्वागत कर सकेंगे।
वह मृत्यु हमारे लिए अमंगल की निशानी नहीं,
किन्तु मंगल-यात्रा का कारण बनेगी।

प्रस्तुत कृति—

परम पूज्य जिन-शासन के अजोड़ प्रभावक कलिकाल-कल्पतरु परमाराध्यपाद गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्र सूरीश्वर जी म. सा. की सतत कृपा-दृष्टि, परम पूज्य अध्यात्मयोगी प्रशान्त मूर्ति पूज्यपाद गुरुदेव पंन्यासप्रवरश्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री की सतत कृपा-वृष्टि तथा प. पू. सौजन्यमूर्ति आचार्यप्रवर श्रीमद् विजय प्रद्योतन सूरीश्वरजी म. सा. के शुभाशीर्वाद एवं सौजन्यशील पू. पंन्यासश्री वज्रसेन विजयजी म. सा. की सहयोगवृत्ति आदि का ही सुफल है।

पुस्तक के अनुरूप 'मृत्यु की चिंतन यात्रा' का आलेखन करने वाले प. पू. आचार्यप्रवर श्री पद्मसागर सूरीश्वरजी म. का मैं आभारी हूँ। पुस्तक के विषय-संदर्भ में समुचित प्रस्तावना-लेखक राघवप्रसादजी पाण्डेय धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में, मतिमन्दता से पुस्तक में कहीं भी जिनाज्ञा-विरुद्ध लिखने में आया हो तो उसके लिए मिच्छामि दुक्कडम्।

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री के
कृपाकांक्षी **मुनि रत्नसेन विजय**

हमारे लोकप्रिय हिन्दी प्रकाशन

लेखक : अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्य

१.	महामंत्र की अनुप्रेक्षा	२०.००
२.	नमस्कार-मीमांसा	८.००
३.	चिन्तन की चिनगारी	४.५०
४.	चिन्तन के फूल	५.००
५.	परमात्मदर्शन	५.००
६.	चिन्तन की चांदनी	६.००
७.	चिन्तन का अमृत	७.००
८.	आपके सवाल हमारे जवाब	७.००
९.	समत्व योग की साधना	१२.००
१०.	परमेष्ठि-नमस्कार	प्रेस में
११.	जैनमार्ग परिचय (द्वि.आ.)	प्रकाश्य
१२.	प्रतिमा पूजन	प्रेस में

लेखक : प. पू. आचार्य प्रवर श्री कुंदकुंद सूरीश्वरजी म. सा.

१.	साधना के पथ पर	४.००
२.	श्रावक व्रत दर्पण	४.००

लेखक : पूज्य मुनिराज श्री रत्नसेन विजयजी म.

१.	वात्सल्य के महासागर	४.००
२.	सामायिक सूत्र विवेचना	५.००
३.	चैत्यवंदन सूत्र विवेचना	अप्राप्य
४.	आलोचना सूत्र विवेचना	६.००
५.	वंदित्तु सूत्र विवेचना	५.००
६.	आनन्दघन चौबीसी विवेचना	२०.००
७.	मानवता के दीप जलाएँ	९.००
८.	कर्मन् की गत न्यारी	८.००
९.	मानवता तब महक उठेगी	७.००
१०.	जिंदगी जिंदादिली का नाम है	८.००
११.	चेतन ! मोह नींद अब त्यागो	९.००
१२.	मृत्यु की मंगल यात्रा	९.००
१३.	युवानो ! जागो	६.००
१४.	शांतसुधारस (हिन्दी विवेचन)	(प्रेस में)
१५.	Lamps of Humanity	(In Press)
१६.	Fragrance of Humanity	(In Press)

1

> जिनके महलों में हजारों रंग के फानूस जलते थे,
> आज उनकी कब्र का, निशां भी नहीं।

प्रिय मुमुक्षु 'दीपक',
धर्मलाभ।

परमात्म-कृपा से आनन्द है।

मृत्यु !!!

कितना भयावह और डरावना शब्द है !

- मृत्यु का नाम सुनते ही
  अच्छे-अच्छों के छक्के छूट जाते हैं।
- मृत्यु का आगमन सुनते ही
  कल्पनाओं का सारा महल धराशायी हो जाता है।
- किसी की मृत्यु के समाचार तो
  अपशकुनियाल गिने जाते हैं,
  फिर
  मृत्यु की मंगल यात्रा कैसे सम्भवित है ?
  हर व्यक्ति के दिल में जगा यह प्रश्न है।
  समाधान इस प्रकार है—
- मृत्यु कोई अमंगल वस्तु नहीं है,

वह तो अवश्यम्भाविनी घटना है।
उसे न रोका जा सकता है, न
टाला जा सकता है।

- जन्म के साथ ही मृत्यु का सीधा सम्बन्ध है।
जिसने जन्म को स्वीकार किया, उसे
मृत्यु को 'स्वीकार' करना ही चाहिये।
जन्म के बाद मृत्यु को अस्वीकार करना प्रकृति के
सनातन-सत्य का ही विरोध है।
भगवान महावीर ने
मृत्यु को नहीं, जन्म को ही भयंकर कहा है।

- 'जन्म' का बन्धन टूटेगा तो मृत्यु का बन्धन
स्वतः टूट जाएगा।
जब तक 'जन्म' की शृंखला चलेगी,
तब तक 'मृत्यु' की परम्परा चलने ही
वाली है।
अतः
मृत्यु से मुक्ति पाने के लिए 'अजन्मा' बनने
की साधना जरूरी है।
अनन्त-अनन्त जन्मों से
मृत्यु की शृंखला आत्मा से जुड़ी हुई है।
हर जन्म के बाद
मृत्यु की पीड़ा का हमने अहसास किया है।
फिर भी आश्चर्य है कि,
मृत्यु हमारे लिए नित नई वस्तु बनी है,
उसके भूतकालीन संवेदनों को हम

बिल्कुल विस्मृत कर चुके हैं।
जितनी बार जन्म धारण किया,
उतनी ही बार मृत्यु से मुलाकात ली....
फिर भी हमें
आज भी मृत्यु से उतना ही डर है।

कोई भविष्यवेत्ता आकर कह दे—
"तीन दिन बाद तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी"
बस !
खाना हराम, पीना हराम,....सब कुछ
हराम हो जायेगा।
आखिर ऐसा क्यों ?
जन्म से इतनी घबराहट नहीं,
तो फिर मृत्यु के समय इतनी घबराहट क्यों ?

इसका एक मात्र कारण है—
इस जीवन में हमने अनेक व्यक्तियों व
वस्तुओं के साथ इस प्रकार के नाना रिश्ते
जोड़ लिए हैं कि उन्हें हम छोड़ना नहीं चाहते
और मृत्यु हमसे बलात् छुड़ाना चाहती है।
मृत्यु के उस बलात्कार के कारण ही
हम चिल्लाते हैं····रुदन करते हैं····कल्पांत करते हैं—
परन्तु मृत्यु अपना कार्य साध ही लेती है।
परन्तु हाँ,
जिसने अपने जीवन में न नाता जोड़ा और
न रिश्ता जोड़ा····एक मात्र सहज जीवन
जिसने जिया····उसे न तो मृत्यु सताती है····
और न ही वह मृत्यु से भयभीत होता है।

ऐसे सहज जीवन का स्वामी ही
मृत्यु को मंगलमय बनाता है,
मृत्यु को महोत्सवमय बनाता है ।
अरे !
महोत्सवमय जीवन तो अनेक का होता है
परन्तु
मृत्यु को महोत्सव बनाने वाले तो ऐसे
ही सहज योगी होते हैं ।
ऐसे सहज योगी के लिए
मृत्यु कभी अमंगल रूप नहीं होती ।
वे अपनी मृत्यु के द्वारा भी
मृत्यु का ही अंत लाते हैं ।
जो 'मृत्यु' मृत्यु का ही अंत ला दे ?
भला उसे अमंगल कैसे कह सकते हैं ।
वह मृत्यु तो मंगल-यात्रा ही कहलाएगी न !
आओ !
हम सब मिलकर
भगवान महावीर के द्वारा निर्दिष्ट
साधना-पथ पर सम्यक् कदम बढ़ाएँ
और अपनी मृत्यु को
मंगल-यात्रा के रूप में परिवर्तित कर दें ।

शेष शुभ ।

—मुनि रत्नसेनविजय

□ □ □

2

> The greatest humbug in the world is the idea that money can make a man happy.

प्रिय मुमुक्षु 'दीपक',
धर्मलाभ !

परमात्मा की असीम कृपा से आनन्द है।

संयम-यात्रा के साथ-साथ विहार-यात्रा भी सानन्द चल रही है। कल ही तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारी जिज्ञासावृत्ति प्रशंसनीय है।

द्रव्य की दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ नित्य है। पर्याय की दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ अनित्य है। जैनदर्शन में 'आत्मपदार्थ' भी द्रव्य की दृष्टि से नित्य है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य है।

जैनदर्शन में 'मृत्यु' का विचार/चिन्तन, कायर/कमजोर बनाने के लिए नहीं है। जीवन की अनित्यता/क्षणभंगुरता का विचार भयभीत बनाने के लिए नहीं है। जीवन की अनित्यता का विचार कोई निराशावादी विचारधारा नहीं है।

आत्मा की नित्यता और अनित्यता के विचार के पीछे रहस्य रहा हुआ है।

आत्मा/जीवन की अनित्यता का विचार हमें संसार से विरक्त बनाता है ।

मरण का स्मरण पौद्गलिक भाव के विस्मरण के लिए है ।

इस अमूल्य जीवन में बाह्य-भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति न रह जाय, इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर पूर्वाचार्यों ने नियमित रूप से अनित्य आदि भावनाओं से आत्मा को भावित करने का उपदेश दिया है ।

अनित्य भावना के अन्तर्गत जीवन और पदार्थ की क्षण-भंगुरता का विचार किया जाता है ···परन्तु उस भावना का एक मात्र उद्देश्य वैराग्य को पुष्ट करना ही है ।

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व और अशुचि भावनाएँ वैराग्य की पुष्टि के लिए ही हैं । ये भावनाएँ निराशावादी बनने के लिए नहीं हैं ।

महोपाध्याय श्रीमद् विनयविजयजी म. ने 'शांत-सुधारस' ग्रन्थ के अन्तर्गत अनित्य आदि भावनाओं में जीवन की अनित्यतादि के वर्णन के साथ-साथ उत्साहवर्धक आत्मा की अमरता का भी वर्णन किया है ।

प्रिय दीपक ! तुमने 'शांत-सुधारस' ग्रन्थ तो कण्ठस्थ किया ही होगा ? जगत् के यथार्थ-स्वरूप का वर्णन करने वाला यह अनमोल ग्रन्थ है । विविध रागों में इन गीतों को गाया जा सकता है । एकान्त-शान्त-प्रशान्त वातावरण में धीरे-धीरे इन गीतों को गाया जाय तो हम आत्मा की मस्ती का अनुभव कर सकते हैं । आत्मा की सुषुप्त चेतना की जागृति के लिए यह ग्रन्थ प्रेरणा

का अद्भुत स्रोत है। मुझे तो यह ग्रन्थ अत्यन्त ही पसन्द पड़ा है। कण्ठस्थ तो किया ही है, साथ ही इसके हिन्दी-विवेचन के लिए भी मैंने यत्किंचित् प्रयास किया है।

उपाध्यायजी म. फरमाते हैं—

"अनित्यादि भावनाओं से आत्मा को भावित किए बिना विद्वान् जन के हृदय में भी शांत अमृत-रस का प्रगटीकरण संभव नहीं है।"

पहली अनित्य-भावना के अन्तर्गत गेयाष्टक की आठ गाथाओं में संसार के भौतिक पदार्थों और जीवन की क्षण-भंगुरता का मार्मिक शब्दों में वर्णन करने के बाद अन्तिम गाथा में 'आत्मा की नित्यता' का वर्णन करते हुए फरमाते हैं—

नित्यमेकं चिदानन्दमयमात्मनो,
रूपमभिरूप्य सुखमनुभवेयम्।

आत्मा नित्य है।

आत्मा एक है।

आत्मा चिदानन्द रूप है।

नित्य अर्थात् शाश्वत आत्मा अपने मौलिक स्वरूप का कभी त्याग करने वाली नहीं है।

आत्मा का जो मौलिक स्वरूप है, वह कभी नष्ट होने वाला नहीं है।

आत्मा एक है अर्थात् आत्मा की जाति एक है। आत्मा

के मूल-भूत स्वरूप की अपेक्षा जगत् में रहे समस्त प्राणियों में एकता है....समानता है। यावत् सिद्ध भगवन्तों के साथ भी मूलभूत द्रव्य की अपेक्षा हमारी एकता/समानता है। जगत् में अनन्त आत्माओं का अस्तित्व होते हुए भी जाति की अपेक्षा विश्व की सभी आत्माएँ एक समान हैं।

आत्मा 'चिदानंदमय' है। आत्मा स्वयं ही आनंदमय है। एक छोटी सी घटना याद आ रही है—

● बम्बई के शेयर बाजार के एक किनारे पर बैठकर एक भिखारी हमेशा भीख माँगता था। जो कोई उधर आता-जाता था उससे उसे भीख मिल जाती थी। इस प्रकार वह जीवन पर्यंत भीख ही माँगता रहा। ७० वर्ष की उम्र में उस भिखारी के शरीर में कोई रोग पैदा हुआ....और उस रोग के कारण उसकी मृत्यु हो गई। भिखारी के शव को नगरपालिका के कर्मचारी उठा ले गए।

जहाँ यह भिखारी बैठता था, उसके पास ही एक व्यापारी की दुकान थी। उसने सोचा, 'इस स्थान पर वर्षों से यह भिखारी बैठा था....अत: इस जगह को कम से कम साफ तो करवा दूं। ऐसा विचार कर उस व्यापारी ने उस स्थान को खोदा। खोदने के साथ ही उस भूमि में से २००० सोना मोहरें निकलीं। मोहरों को देख कर व्यापारी खुश हो गया।

दृष्टान्त का उपनय है—धन का खजाना भिखारी की बैठक के नीचे ही पड़ा था....परन्तु वह भिखारी जीवन-पर्यन्त भिखारी ही रहा, उसी प्रकार सुख/आनन्द का खजाना आत्मा के नीचे अन्दर ही पड़ा है, परन्तु हम उसे बाहर खोज रहे हैं।

आत्मा स्वयं सुखमय है। सुख की प्राप्ति के लिए कहीं दौड़ लगाने की जरूरत नहीं है....वह तो आत्मा से ही प्राप्त हो सकेगा।

पूज्य महोपाध्याय **यशोविजयजी म. 'ज्ञानसार'** में फरमाते हैं—

निधिं स्वसन्निधावेव स्थिरता दर्शयिष्यसि।

हे वत्स! चंचल मन वाला बनकर तू क्यों इधर-उधर भटककर खेद पा रहा है? तू अपने स्वरूप में स्थिर बन। सुख का खजाना तेरे पास ही है....स्थैर्य के बाद ही वह खजाना हाथ लग सकेगा।

हे आत्मन्! तू स्वयं चिदानन्द स्वरूप है। बाह्य/पौद्‌गलिक परभाव का त्याग कर और निज चिदानन्द स्वरूप में मस्त बन।

शुद्धात्म स्वरूप के चिन्तन से आत्मा निराशावाद के जाल/जंजाल से मुक्त बनती है....और निर्भय बनती है।

'अशरण-भावना' के अन्तर्गत सर्वप्रथम गेयाष्टक में संसार में आत्मा की अशरणता का वर्णन किया गया है। दुनिया में ऐसा कोई जीवन नहीं है....ऐसी कोई जगह नहीं है, ऐसा कोई पद/स्थान नहीं है, जिसे प्राप्त करने के बाद आत्मा सदा के लिए निर्भय निश्चिन्त बन जाय।

धन, यौवन, पुत्र, परिवार, राज्य, समृद्धि, पद तथा प्रतिष्ठा आदि कोई भी आत्मा के लिए शरण्य नहीं है....इस प्रकार

'अशरणता' का विस्तृत वर्णन करने के बाद अन्त में शरण्य शरणदाता का परिचय देते हुए कहते हैं—

शरणमेकमनुसर चतुरङ्गम्, परिहर ममतासङ्गम् ।

इस विश्व में आत्मा के लिए एक मात्र शरण्य चार अंग (दान, शील, तप और भाव) वाले धर्म की शरणागति का स्वीकार कर और बाह्य भौतिक पदार्थों की ममता का त्याग कर ।

'संसार-भावना' के अन्तर्गत संसार की अतिदारुणता/विषमता का सविस्तृत वर्णन करने के बाद महोपाध्यायजी म. फरमाते हैं कि—

सकलसंसारभयभेदकम्,
जिनवचो मनसि निबधान रे ।

इस दारुण और विषम संसार के समस्त भयों से मुक्त बनाने वाले 'जिनवचन' को मन में धारण कर ।

जिनेश्वरदेव के वचन मोह के पर्वत को भेदने में वज्रतुल्य हैं । पर्वत को भेदने का सामर्थ्य वज्र में ही है ।

संसार की भयानकता/भयंकरता का वर्णन करने के बाद महोपाध्यायजी म. उस संसार को भेदने/नष्ट करने का उपाय भी साथ में ही बतला रहे हैं ।

जिन-वचन में वह ताकत है····शक्ति है । जिन-वचन के पालन से आत्मा कर्म के भार से मुक्त बनती है····संसार के भय से रहित बनती है ।

'एकत्व-भावना' के अन्तर्गत पू. महोपाध्यायजी म. फरमाते

हैं कि इस संसार में आत्मा अकेली जन्म धारण करती है....और मौत को प्राप्त करती है और अकेली ही कर्म का बंध करती है....और अकेली ही कर्म के फल का भोग करती है।

इस संसार में आत्मा में जो कुछ विषमता दिखाई दे रही है...वह सब कर्म की पराधीनता/परवशता के कारण ही है।

आत्मा की कर्मकृत विषमता का वर्णन करने के बाद पू. उपाध्यायजी म. फरमाते हैं—

रुचिरसमतामृतरसं क्षणमुदितमास्वादय मुदा।

अत्यन्त मनोहर उदित समता अमृत के रस का प्रसन्नतापूर्वक आस्वादन कर।

....इसी प्रकार '**अन्यत्व भावना**' के अन्तर्गत आत्मा से भिन्न पर/पौद्गलिक पदार्थ का वर्णन करते हुए फरमाते हैं कि दुनिया के सभी पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं। इस सनातन सत्य की अज्ञानता के कारण आत्मा पौद्गलिक पदार्थ में आत्म-बुद्धि-ममत्व-बुद्धि करके व्यर्थ ही कर्म-बंध करती है।

शरीर, धन, पुत्र, स्वजन तथा महल आदि सभी तुझसे भिन्न हैं....जिस शरीर को अपना मानकर सतत उसके रक्षण, संरक्षण और पोषण में तू प्रयत्नशील है....वह शरीर भी तेरा कहाँ है?

पौद्गलिक पदार्थ की ममता ही परिताप और सन्ताप का कारण है। जगत् के समस्त पदार्थों का संग/परिचय एक मात्र दुःख का ही जनक है। जगत् का कोई भी भौतिक पदार्थ आत्मा के लिए सहायक नहीं बन सकता है।

अंत में महोपाध्यायजी म. फरमाते हैं—

भज जिनपतिमसहायसहायम्, शिवगति-सुगमोपायम् ।

शिवगति/मोक्ष की प्राप्ति में सुगम/सरल उपाय रूप असहाय को सहायता करने वाले जिनेश्वर भगवन्त को तुम भजो ।

इस संसार में जिसका कोई बेली/साथी नहीं है उसको पूर्ण सहयोग देने वाले/पूर्ण बनाने वाले जिनेश्वर भगवन्त हैं । जिनेश्वर भगवन्त की शरणागत बनी आत्मा ही पूर्णता को प्राप्त करती है ।

छठी **अशुचि-भावना** में महोपाध्यायजी म. विस्तार से शरीर की अशुचिता/अपवित्रता का वर्णन करते हैं ।

....इस शरीर को बारंबार नहलाए....चन्दन से इसका बारंबार लेप करे, फिर भी यह देह अपनी स्वाभाविक मलिनता का त्याग करने वाला नहीं है ।

कर्पूर के ढेर के बीच लहसुन को रखा जाय....तो भी क्या लहसुन सुगंधित बन सकता है ? इसी प्रकार इस देह को कितना ही विभूषित किया जाय....फिर भी यह देह अपने मौलिक स्वभाव का त्याग करने वाला नहीं है । इस देह से मल का प्रवाह सतत बह रहा है ।

देह की अपवित्रता का सविस्तृत वर्णन करने के बाद महोपाध्यायजी म. आत्मा की पवित्रता का वर्णन करते हुए फरमाते हैं—

"अतिपुण्यम्, तच्चितय चेतननैपुण्यम्" ।

अतिपवित्र आत्मा की निपुणता का विचार/चिन्तन कर।

आत्मा का मौलिक स्वरूप शुद्ध, निरंजन, निराकार और निष्कलंक है। आत्मा शंख की तरह निरंजन और आकाश की तरह निर्लेप है। जिस प्रकार आकाश को किसी प्रकार का दाग नहीं लगता है, उसी प्रकार आत्मा पर भी किसी प्रकार का दाग नहीं लगता है।

मूलभूत आत्म-द्रव्य स्फटिक रत्न से भी अधिक निर्मल और विशुद्ध है।

आत्मा के मौलिक स्वरूप के चिन्तन से चित्त प्रसन्न और निर्मल बनता है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप के चिन्तन से आत्मा निर्भय बनती है।

मुमुक्षु दीपक !

जैन-दर्शन में 'मृत्यु' का विचार एक मात्र वैराग्य-पुष्टि और आत्म-जागृति के लिए ही है। सामान्यतः दुनिया में सात भय प्रसिद्ध हैं—

इहलोक-भय—मनुष्य को मनुष्य से भय इत्यादि।

परलोक-भय—मनुष्य को तिर्यंच तथा देव से भय।

आदान-भय—चोरी, लूट आदि का भय।

आजीविका-भय—धनार्जन कैसे हो? इसका भय।

अकस्मात्-भय—रेल, मोटर आदि की दुर्घटना का भय।

अपयश-भय—लोक में मेरी अपकीर्ति तो नहीं होगी न? इसका भय।

मृत्यु-भय—मौत आ जायगी तो इसका भय।

इन सात भयों में सबसे अधिक भय मृत्यु से होता है।

मृत्यु के भय से सर्वथा मुक्त करने वाले अरिहन्त परमात्मा हैं। इसलिए अरिहन्त परमात्मा को 'अभयदयाणं' 'अभय दाता' कहते हैं। अरिहन्त परमात्मा की भावपूर्वक भक्ति करने से हमें 'अभय' की प्राप्ति होती है। जिसने अरिहन्त की शरणगति स्वीकार की है, उस आत्मा को मृत्यु का भय भी नहीं सताता है। वह आत्मा निर्भय बन जाती है। जीवन में निर्भयता की प्राप्ति के लिए परमात्मा की भक्ति में सतत प्रयत्नशील बने रहो।

आराधना में उद्यमवन्त रहना। परिवार में सभी को धर्मलाभ।

शेष शुभ।

—रत्नसेनविजय

दीपक के प्यार में पतंगा जल जाता है,
सूरज के आने से चन्द्र छिप जाता है।
आप न भूलना अपने अस्तित्व को ए मीत !
संसार में जो आता है, निःसन्देह जाता है ॥

3

> खबर नहीं इस जग में पल की,
> समझ मन ! कौन जाने कल की ?

प्रिय मुमुक्षु 'दीपक'

धर्मलाभ !

परमात्म-कृपा से आनन्द है।

तुम्हारा पत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए। पुत्र 'पराग' की अकाल-मृत्यु से तुम्हारे दिल को जो आघात लगा···उस आघात की वेदना को प्रगट करने वाला तुम्हारा पत्र पढ़ा।

इस संसार में जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित ही है। **'पंचसूत्रकार'** ने बहुत ही सुन्दर बात कही है—**संजोगो विओगोकारणं**।

जहाँ संयोग है वहाँ वियोग खड़ा ही है। मोहाधीनता/अज्ञानता के कारण हम सानुकूल संयोग को स्वीकार करते हैं····परन्तु उसके वियोग को अस्वीकार कर देते हैं।

सानुकूल संयोग स्वीकार है····किन्तु वियोग अस्वीकार है।

जो संयोग हमें आनन्द देता है····जिस संयोग में हम प्रसन्न बनते हैं, उसका वियोग हमें अवश्य दुःखी करता है।

सांसारिक संयोग की चिन्ता आर्त्तध्यान है। भौतिक संयोग के वियोग की चिन्ता करना आर्त्तध्यान है।

उदाहरण— "कब मुझे ऐसे मकान की प्राप्ति होगी?" यह 'संयोग-चिन्ता' रूप आर्त्तध्यान है।

"मेरी वस्तु कोई उठा तो नहीं ले जाएगा न?" यह संयोग के वियोग की चिन्ता-रूप आर्त्तध्यान है।

प्रतिकूल संयोग के वियोग की चिन्ता करना भी आर्त्तध्यान है। जैसे *यह धूप कब जायगी?—यह गर्म पवन कब बंद होगा?*

जीवन में धर्म की परिणति के लिए सतत आत्म-जागृति की आवश्यकता है। यदि सतत आत्म-जागृति न हो तो कब हमारी आत्मा आर्त्तध्यान के वशीभूत हो जायगी, कुछ कह नहीं सकते।

सांसारिक सुख के राग और दुःख के द्वेष से आत्मा आर्त्तध्यान के अधीन बन जाती है और व्यर्थ ही कर्म बंध करती है।

मुमुक्षु दीपक!

तूने **योग-शास्त्र** का चौथा प्रकाश देखा/पढ़ा होगा?

कलिकालसर्वज्ञ **हेमचन्द्राचार्य** जी भगवन्त ने **'योगशास्त्र'** के चौथे प्रकाश में **'संसार भावना'** का वर्णन करते हुए लिखा है—

समग्रलोकाकाशेऽपि, नानारूपैः स्वकर्मतः।
बालाग्रमपि तन्नास्ति, यन्न स्पृष्टं शरीरिभीः।

इस समग्र लोकाकाश में बाल के अग्र-भाग जितना भी स्थान ऐसा नहीं है कि जिसका स्पर्श स्वकर्म के उदय से नाना रूपों द्वारा हमारी आत्मा ने नहीं किया हो !

इससे सिद्ध होता है कि हमारी आत्मा ने चौदह राजलोक स्वरूप जगत् के सभी आकाश-प्रदेशों का स्पर्श कर जन्म और मृत्यु को प्राप्त किया है।

मृत्यु की अनिवार्यता को समझाने वाली एक घटना याद आ रही है—

● एक बार महात्मा बुद्ध किसी वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे। तभी एक बुढ़िया अत्यन्त करुण रुदन करती हुई उनके निकट आई.... उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह रही थी। उसके हृदय में अत्यन्त वेदना थी।

महात्मा बुद्ध ने आश्वासन देते हुए कहा "भगिनी! इतने जोर से रुदन क्यों कर रही हो?"

उस स्त्री ने रोते हुए कहा, "कृपासिन्धु! आप करुणा के अवतार हो। हे कृपालु! मेरे जीवन का आधार---इकलौता पुत्र कुछ भी बोलता नहीं है....खाता नहीं है....पीता नहीं है... उसके श्वास की गति बन्द हो गई है....शरीर में किसी प्रकार की हलन-चलन नहीं है। मेरे जीवन का वही एक मात्र आधार है, अतः आप कृपा करके उसे ठीक कर दीजिए।"

बुढ़िया का इकलौता पुत्र मर चुका था और वह उसको पुनः जीवित कराना चाहती थी।

महात्मा बुद्ध ने सोचा—"इसका इकलौता पुत्र मर गया है और उसे यह जीवित कराना चाहती है····परन्तु क्या मृत्यु के मुख में गया हुआ जीव पुनःजीवन पा सकता है? इसे अपने पुत्र के प्रति अत्यन्त ही गाढ़ राग है····प्रेम है····आसक्ति है···· अतः इसे किसी प्रकार से युक्तिपूर्वक समझाना होगा।"

कुछ सोच-विचार कर महात्मा बुद्ध ने कहा—"भगिनी! तुम्हारे पुत्र को स्वस्थ करने का एक उपाय है। तू इस पास के नगर में जाकर उस घर से थोड़ी सी भिक्षा लेकर आ जा, जिस घर में किसी भी व्यक्ति की मृत्यु आज तक नहीं हुई हो।"

महात्मा बुद्ध की यह वाणी सुनकर वह स्त्री प्रसन्न हो गई। उसने सोचा—"अभी मैं भिक्षा ले आऊंगी····और मेरा बच्चा ठीक हो जाएगा।"

तुरन्त ही वह स्त्री नगर की ओर दौड़ी। नगर में प्रवेश करने के बाद वह एक सेठ के द्वार पर खड़ी हो भिक्षा की याचना करने लगी।

तुरन्त ही सेठ भिक्षा देने के लिए तैयार हो गया, परन्तु बुढ़िया ने अपनी शर्त कही—"आपके घर में अभी तक किसी की मृत्यु तो नहीं हुई है न?"

बुढ़िया की बात सुनकर सेठ ने कहा "बहिन! चार मास पूर्व ही मेरे पिता की मृत्यु हुई है।"

बुढ़िया ने कहा—"तो फिर मुझे भिक्षा नहीं चाहिये।" इतना कहकर वह आगे बढ़ गई और दूसरे घर से भिक्षा की

याचना करने लगी। भिक्षा तो मिल सकती थी, किन्तु बुढ़िया की शर्त सबको अस्वीकार्य थी।

बुढ़िया और आगे बढ़ी। तीसरे घर से भिक्षा की याचना करने लगी। हर घर से उसे भिक्षा मिल सकती थी, परन्तु बुढ़िया की शर्त किसी को मंजूर नहीं थी। कोई कहता—मेरे पिता की मृत्यु हुई है....तो कोई कहता पुत्र की....तो कोई भाई, बहिन, दादा, दादी की मृत्यु की बात सुनाता।

बुढ़िया घर-घर भटकी....परन्तु कहीं से भी उसे अपनी शर्त के अनुसार भिक्षा नहीं मिल पाई। ....आखिर थककर महात्मा बुद्ध के पास आई और बोली—"नाथ! मुझे कहीं से भी भिक्षा प्राप्त नहीं हो पाई है।"

महात्मा बुद्ध ने कहा,....."तो फिर तुम्हारे पुत्र की स्वस्थता का कोई दूसरा इलाज नहीं है। दुनिया में जो जन्म लेता है....उसे मृत्यु के मुख में जाना ही पड़ता है। ऐसा कोई घर अथवा स्थान नहीं है, जहाँ मृत्यु का आगमन नहीं हुआ हो अथवा नहीं होता हो। मृत्यु का आगमन सर्वत्र-सर्वदा सम्भव है। उसके लिए वार-त्योहार-तिथि-मास या समय का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। दुनिया में जो आया है, उसे एक दिन मृत्यु की शरण में अवश्य जाना ही पड़ता है।"

महात्मा बुद्ध की प्रेरक वाणी सुन कर बुढ़िया के ज्ञान-चक्षु खुल गए और उसके हृदय में रहा पुत्र-मृत्यु का सन्ताप दूर हो गया।

मुमुक्षु 'दीपक' !

इस संसार में हमारा अस्तित्व कमल के पत्ते पर पड़े ओस-बिंदुओं की तरह अस्थिर/अशाश्वत है। जल-तरंगों की भाँति आयुष्य अत्यन्त ही चपल/चंचल है।

महोपाध्याय **श्रीमद् यशोविजयजी म.** ने **'ज्ञानसार'** में कहा है—**'आयुर्वायुवदस्थिरम्'** ।

आयुष्य वायु की तरह अस्थिर है। जिस प्रकार वायु कहीं भी स्थिर नहीं रहता है....उसी प्रकार अपना आयुष्य भी उतना ही चंचल है। किस समय जीवन का यह दीप बुझ जाएगा, उसका कोई पता नहीं है।

पवन के प्रवाह के बीच हमारा जीवन-दीप खड़ा है। किस समय पवन का झोंका/झपाटा आएगा और यह जीवन-दीप बुझ जाएगा, कुछ नहीं कह सकते हैं।

किसी शायर ने ठीक ही कहा है—

न गाती है, न गुनगुनाती है।
मौत जब आती है, चुपके से चली आती है ।।

भौतिक जगत् में आश्चर्यकारी शोध करने वाले और प्रगति के शिखर पर आरूढ़ आज के विज्ञान के सामने सबसे बड़ी समस्या 'मृत्यु' की है। आरोग्य और तबीबी विज्ञान के क्षेत्र में विज्ञान ने आश्चर्यजनक प्रगति की है। अनेक रोगों के निदान और उपचारों की शोध विज्ञान ने की है....परन्तु आज तक कोई वैज्ञानिक किसी भी व्यक्ति को 'मृत्यु' के रोग से नहीं बचा पाया है।

जीवन में सुख ग्रौर शान्ति की प्राप्ति के लिए सिकन्दर सम्राट् ने ग्रनेक देशों पर ग्राक्रमण किया था। भारत-भूमि पर ग्रनेक बार ग्राक्रमण करके सिकन्दर सम्राट् ने स्वर्ण के ढेर खड़े कर दिए थे।

शारीरिक रोगों की चिकित्सा के लिए ग्रनेक वैद्य उसकी सेवा में हाजिर/उपस्थित थे। शत्रुग्रों से रक्षण के लिए ग्रनेक शस्त्र-सज्ज सैनिक सदैव उसके पास उपस्थित रहते थे।

फिर भी ग्रफसोस है कि हर प्रकार की सुख-सुविधा ग्रौर करोड़ों की जायदाद होने पर भी एक दिन उस सिकन्दर को इस रंग-बिरंगी दुनिया से विदाई लेनी पड़ी। उसकी समस्त सत्ता-संपत्ति यहीं रह गई ग्रौर उसे खाली हाथ जाना पड़ा।

कवि ने ठीक ही कहा है—

हजारों ऐश के सामान,
मुल्ले ग्रौर मालिक थे।
सिकन्दर जब गया दुनिया से,
दोनों हाथ खाली थे।।

तुझे पता ही होगा 'विश्वसम्राट्' बनने का स्वप्न देखने वाले 'नेपोलियन बोनापार्ट' को कैसी दुदशा में मौत को भेंटना पड़ा था!

मृत्यु ग्रनिवार्य है....जीवन ग्रस्थिर है/चंचल है। दुनिया में जितने भी संयोग हैं....उनके पीछे वियोग खड़ा ही है।

किसी की मृत्यु पर हमें खुश/राजी नहीं होना है क्योंकि

प्रत्येक व्यक्ति को जीना पसन्द है····मरना पसन्द नहीं है। इसके साथ इस बात को भी ध्यान में रखना है कि किसी स्वजन की मृत्यु के बाद रागजन्य शोक/संताप भी नहीं करना है।

दुनिया के सम्बन्ध आकस्मिक हैं। इस जीवन में जिन-जिन व्यक्तियों के साथ जो-जो सम्बन्ध हुए हैं, वे सब सम्बन्ध अस्थिर और परिवर्तनशील हैं।

आज इस भव/जन्म में जिसके साथ पुत्र का सम्बन्ध हुआ है····सम्भव है आगामी भव में उससे पिता का भी सम्बन्ध हो जाए। इस भव में जिसके साथ पत्नी का सम्बन्ध है····सम्भव है आगामी भव में उसके साथ माता का भी सम्बन्ध हो जाय।

आगामी भव/जन्म की तो बात छोड़ो, मथुरा में कुबेरदत्त कुबेरदत्ता और कुबेरसेना वेश्या के बीच एक ही भव में अनेक सम्बन्ध हुए थे।

इसी जीवन में मित्र और शत्रु के बदलते हुए सम्बन्धों का क्या हमें अनुभव नहीं है! जो व्यक्ति इस जीवन में हमारा घनिष्ट दोस्त/मित्र होता है, वही व्यक्ति कुछ वर्षों के बाद हमारा कट्टर शत्रु भी बन जाता है। जिस व्यक्ति के लिए हम अपनी जान की कुर्बानी देने के लिए भी तैयार होते हैं····सम्भव है, इस जीवन में उस व्यक्ति की जान लेने के लिए भी तैयार हो जाएँ।

संसार के सम्बन्ध तो पंखी मेले की भाँति हैं। संध्या समय वृक्ष पर अनेक पक्षी आकर इकट्ठे होते हैं····परन्तु प्रातःकाल सूर्योदय होते ही सभी पक्षी अन्य-अन्य दिशा में प्रयाण कर जाते हैं। अतः वर्तमान जीवन के किसी स्वजन के वियोग में शोक-

सन्ताप करना अज्ञानता ही है। इस प्रकार शोक करने से केवल मोहनीय कर्म का ही बन्ध होता है।

हमें यह अमूल्य मानव-जीवन मोहनीय कर्म के बन्धन से मुक्त होने के लिए मिला है। जिस जीवन में बन्धन-मुक्ति के लिए प्रयत्न करना है, वही जीवन 'अधिक बन्धन' के लिए न हो जाय, इसके लिए हमें विशेष सावधान बनना चाहिये।

भगवान महावीर परमात्मा ने **'आचारांग सूत्र'** के अन्तर्गत बहुत ही सुन्दर बात कही है—

उट्ठिए नो पमायए।

उठो, जागो। प्रमाद का त्याग करो।

यह श्रेष्ठ जीवन सोने के लिए नहीं है....बल्कि अनन्त की मोह-निद्रा में से जागृत बनने के लिए है।

जो मोहाधीन है....वह सोया हुआ ही है और जिसने मोह का त्याग किया है वह जागृत ही है।

अनन्त काल की मोहाधीन दशा में हम सोते ही रहे हैं। जागने के लिए कोई अवसर ही हाथ नहीं लगा है। आत्म-जागृति रहित जीवन व्यर्थ ही है।

....'निद्रा का अभाव' कोई जागृति नहीं है। दुनिया में ऐसे भी अनेक प्राणी हैं...जो कई दिनों तक सोते भी नहीं है, परन्तु इतने मात्र से उन्हें जागृत नहीं कह सकते। जो आत्मा मोहाधीन है, वह सोई हुई ही है।

सकल विश्व में मोह का साम्राज्य फैला हुआ है। वह अच्छे-अच्छे को दबोच लेता है।

ग्यारहवें 'उपशांतमोह' गुणस्थानक पर पहुँची हुई आत्मा वीतराग-सदृश होती है। उसे राग और द्वेष का लेश भी उदय नहीं होता है। परन्तु उस आत्मा को भी मोह नहीं छोड़ता है। मोह उस आत्मा पर भी जोरदार आक्रमण कर देता है....मोह के आक्रमण के साथ ही वह आत्मा धड़-धड़् नीचे गिरती है और एकदम निम्नस्तर-मिथ्यात्व गुणस्थानक तक पहुँच जाती है।

'पुत्र-मृत्यु' की जो घटना बनी है, उसे स्वीकारे बिना छुटकारा ही नहीं है। जगत् का यथार्थ दर्शन करने से पुत्र-मोह अवश्य दूर होगा और तुम अपने जीवन में शान्ति का अनुभव कर सकोगे।

बर्फीले पर्वत पर चढ़ने की भाँति ही गुणस्थानक की श्रेणी पर आरोहण करना अत्यन्त कठिन है। बर्फीले पर्वत पर चढ़ते समय थोड़ी सी सावधानी न रखी जाय तो व्यक्ति फिसलकर नीचे गिर सकता है।

बर्फीले पर्वत पर चढ़ने के लिए जितनी सावधानी और जागृति की आवश्यकता है, उससे भी अधिक सावधानी की आवश्यकता गुणस्थानक पर चढ़ने के लिए जरूरी है।

अतः प्रमाद का त्याग कर आत्महित के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिये। किसी ने ठीक ही कहा है--

जिसने जाना मूल्य समय का, वह आगे बढ़ पाया है।
आलस करके जो बैठ गया, वह जीवन भर पछताया है॥

आराधना में उद्यमवंत रहना।

परिवार में सभी को धर्मलाभ कहना। शेष शुभ।

—रत्नसेन विजय

4

> कितने मुफलिस हो गए, कितने तवंगर हो गए।
> राख में जब मिल गए दोनों बराबर हो गए।

मुमुक्षु 'दीपक' !

धर्मलाभ।

परमात्मा की असीम कृपा से आनन्द है। दो दिन पूर्व ही तुम्हारा पत्र मिला। प्रसन्नता का अनुभव हुआ। मृत्यु के रहस्यों की तुम्हारी जिज्ञासा जानकर विशेष आनन्द हुआ।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा शाश्वत पदार्थ है। आत्मा का अस्तित्व अनादि-अनन्त है। आत्मा का न कोई जन्म है और न कभी मृत्यु। जन्म और मृत्यु आत्मा के धर्म नहीं हैं। व्यवहार से हम जिसे 'जन्म और मृत्यु' कहते हैं....वह तो औपचारिक है।

कर्मबद्ध संसारी आत्मा अपने आयुष्य और नामकर्म के अनुसार नए-नए देह धारण करती है।

मनुष्य-गति नामकर्म के फलस्वरूप आत्मा मनुष्य-देह को धारण करती है, तिर्यंच और देव-गति नामकर्म के अनुसार आत्मा तिर्यंच और देव के देह को धारण करती है....और अपने आयुष्य-कर्म के अनुसार उतने समय तक आत्मा उस देह में रहती

है। आयुष्यकर्म के क्षीण हो जाने पर आत्मा उस देह का त्याग कर देती है····उसी को हम 'मृत्यु' कहते हैं। अपने पूर्वदेह के त्याग के बाद आत्मा पुनः नवीन देह को धारण करती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक देह का विसर्जन मृत्यु है।

जब तक आत्मा कर्मों से सर्वथा मुक्त नहीं बनती है, तब तक वह देह-रहित अवस्था में नहीं रह सकती है। अनादि काल से तैजस और कार्मण शरीर तो आत्मा के साथ ही हैं। परन्तु ये दोनों शरीर अत्यन्त सूक्ष्म हैं। ये चक्षुओं के अगोचर हैं। तैजस और कार्मण शरीर को छोड़ कर दूसरे तीन शरीर हैं—औदारिक, वैक्रियिक और आहारक।

आहारक-लब्धि धारक चौदह पूर्वधर आत्माएँ ही आहारक-शरीर बना सकती हैं। आहारक लब्धिमंन्त चौदह पूर्वी आत्मा अपने किसी संशय के निवारण के लिए 'आहारक-शरीर' का निर्माण करती है।

मनुष्य और तिर्यंचों के जन्म से ही औदारिक-शरीर होता है। देव और नारक जीवों के जन्म से ही वैक्रियिक शरीर होता है।

विक्रिया लब्धि वाले मनुष्य तथा तिर्यंच अपनी लब्धि के बल से वैक्रियिक शरीर की रचना कर सकते हैं।

देव-गति और नरक-गति के जीवों के जन्म से ही वैक्रियिक शरीर होता है और उनके पास विक्रिया लब्धि भी होती है, जिसके बल से वे जब चाहें तब उत्तर वैक्रियिक शरीर की रचना कर सकते हैं।

प्रत्येक जीवात्मा अपने जीवन में आगामी भव के आयुष्य का बंध एक ही बार करती है। वर्तमान में हम जिस आयुष्य/जीवन का भोग कर रहे हैं, इसका बंध इस भव में नहीं हुआ है, बल्कि गत भव में हुआ है। ज्ञानावरणीयादि सात कर्मों का बंध हमारे जीवन में प्रति पल/प्रति समय चालू है, जबकि आगामी भव के आयुष्य का बंध जीवन में एक ही बार होता है....और वह बंध 'अन्तर्मुहूर्त' पर्यन्त चलता है।

आयुष्य के बंध-काल समय में हमारी आत्मा के जैसे शुभ-अशुभ परिणाम/अध्यवसाय होते हैं, उसी के अनुरूप/अनुसार हमारी शुभ-अशुभगति का निर्णय होता है। इससे स्पष्ट होता है कि आयुष्य बंध का काल हमारे आगामी जीवन का निर्णायक Determination of our next life है।

एक-मात्र चरम-भवी आत्माएँ अपने जीवन में आयुष्य-कर्म का बंध नहीं करती हैं। चरमभवी/शरीरी वे आत्माएँ होती हैं, जो उसी भव में कर्मबंधन से मुक्त बनने वाली हों। उन चरम-शरीरी आत्माओं को छोड़कर सभी आत्माएँ अपने जीवन में एक बार अवश्य आयुष्य कर्म का बंध करती हैं। प्राय: वर्तमान जीवन का $\frac{2}{3}$ भाग व्यतीत होने पर आत्मा अपने आगामी भव के आयुष्य-कर्म का बंध करती है। कदाचित् उस समय कर्म का बन्ध न हुआ हो तो अवशिष्ट आयुष्य का $\frac{2}{3}$ भाग बीतने पर आगामी भव के आयुष्य का बंध होता है और कदाचित् उस समय भी बंध न हो तो वर्तमान जीवन के अन्त समय में तो अवश्य ही आगामी भव के आयुष्य का बंध होता है।

आयुष्य बंध भी दो प्रकार का होता है—(१) सोपक्रम आयुष्य और (२) निरुपक्रम आयुष्य। जिस आयुष्य पर किसी

प्रकार का उपक्रम आघात न लगता हो, उसे निरुपक्रम आयुष्य कहते हैं और जिस आयुष्य पर किसी प्रकार का आघात/उपक्रम लगता हो उसे सोपक्रम आयुष्य कहते हैं।

अत्यन्त हर्ष और अत्यन्त शोक के समाचार से भी हृदय-गति अवरुद्ध हो जाती है। कई बार रेल, मोटर आदि की दुर्घटना से भी व्यक्ति की जीवनडोर टूट जाती है और व्यक्ति का आयुष्य समाप्त हो जाता है।

जिस व्यक्ति का आयुष्य सोपक्रमी हो, उसका अवशिष्ट आयुष्य मात्र अन्तर्मुहूर्त में समाप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति ने अपने पूर्व भव में अस्सी वर्ष के आयुष्य का बंध किया और इस भव में ४० वर्ष की उम्र में रेल दुर्घटना हो गई....तो वह व्यक्ति अपना अवशिष्ट ४० वर्ष का आयुष्य एक मात्र अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में समाप्त कर लेगा।

तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव और चरमशरीरी आत्माओं का आयुष्य निरुपक्रम होता है....अर्थात् उन आत्माओं पर भयंकर उपसर्ग आ जायें....तो भी उनके आयुष्य पर किसी प्रकार का उपक्रम/आघात नहीं लगता है। अर्थात् वे आत्माएँ अपने आयुष्य का सम्पूर्ण उपभोग करती हैं। मरणान्त कष्ट से भी उनके पूर्व निश्चित आयुष्य का घात नहीं होता है, जबकि सोपक्रमी आयुष्य वाली आत्माओं का आयुष्य रोग, उपद्रव, दुर्घटना आदि के आघात से पहले भी नष्ट हो सकता है।

मुमुक्षु दीपक !

प्रायः करके अपना भी आयुष्य सोपक्रमी/सोपघाती ही है

....अतः किस समय अपने आयुष्य की डोर टूट जाएगी, इसका कोई पता नहीं है।

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' जो आत्मा इस संसार में किसी देहधारी के रूप में जन्म लेती है, तो उसकी मृत्यु निश्चित ही है....चाहे वह देव हो या मनुष्य, तिर्यंच हो या नारक। जन्म लेने वाले के लिए मृत्यु अनिवार्य है....परन्तु मृत्यु के बाद जन्म वैकल्पिक है। जो आत्माएँ अपने वर्तमान मनुष्य-जीवन में घाति-अघाति समस्त कर्मों का क्षय कर देती हैं....उनकी भी एक बार मृत्यु तो होती ही है....परन्तु वे आत्माएँ अपनी अन्तिम मृत्यु के द्वारा अमरत्व प्राप्त कर लेती हैं और सदा के लिए जन्म-जरा और मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाती हैं। परन्तु जो आत्माएँ कर्म-बन्धन से ग्रस्त हैं, उन आत्माओं को अपने कर्मानुसार जन्म धारण करना ही पड़ता है।

जन्मस्थल की पसंदगी भी स्वैच्छिक नहीं है। हर जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही गति और जाति में जन्म धारण करता है। प्रभु महावीर स्वामी ने ठीक ही कहा है—

'कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।'

आत्मा की अपनी कोई जाति नहीं है....परन्तु अपने कर्म के अनुसार ही आत्मा ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि बनती है।

- अत्यन्त आरम्भ-समारम्भ और परिग्रह में आसक्त आत्मा नरक आयुष्य का बंध करती है।

- मायाधीन आत्मा तिर्यंच आयुष्य का बंध करती है।

• अल्पारम्भ, अल्प-परिग्रह वाली और स्वभाव से मृदु और सरल आत्माएँ मनुष्य आयुष्य का बंध करती हैं।

• सराग-संयम, बाल-तप और अकामनिर्जरा से आत्मा देवगति के आयुष्य का बंध करती है।

• देवगति के देव पुनः देवगति के आयुष्य का बंध नहीं करते हैं....अर्थात् देव मरकर देव नहीं बनते हैं।

• देव मरकर नरक में भी पैदा नहीं होते हैं।

• नरकगति के जीव देव और नरकगति के आयुष्य का बंध नहीं करते हैं।

• मनुष्य मरकर सभी गतियों में पैदा हो सकता है।

• तिर्यंच गति के जीव सभी गतियों में पैदा हो सकते हैं।

इस सचराचर विश्व में मनुष्य-जीवन की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

भगवान महावीर परमात्मा ने इस विश्व में चार वस्तुएँ अत्यन्त दुर्लभ कही हैं—

चत्तारि परमङ्गाणि, दुल्लहाणि उ जंतुणो।
माणुसत्तं सुइ सद्धा संजमंमि य वीरियं।।

इस विश्व में चार वस्तुओं की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है—मनुष्य-जन्म, धर्म-श्रवण, धर्म-श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ।

इस प्रकार महावीर परमात्मा ने मनुष्य-जीवन की प्राप्ति को भी अत्यन्त दुर्लभ कहा है।

मुमुक्षु दीपक !

थोड़ा सा विचार कर। हम कितने सद्भागी/बड़भागी हैं ! अत्यन्त ही दुर्लभ ऐसा मनुष्यजन्म हमें प्राप्त हो गया है। अब हमें इस प्रकार जीवन जीना है कि मृत्यु भी हमारे लिए महोत्सव रूप बन जाय। हँसते-हँसते सहज भाव से हमें यहाँ से विदाई लेनी है। जीवन की सफलता का आधार 'समाधि-मृत्यु' है।

समाधि-मृत्यु अर्थात् साहजिक मृत्यु, सहज भाव से देह का त्याग/देह का विसर्जन। देह का साहजिक त्याग तभी सम्भव है, जब जीवन में देह के ममत्व-त्याग का अभ्यास किया हो।

जिस मकान को तुम अपना मानते हो, जिस पर तुम अपना स्वामित्व धारण करते हो उसे अपना समझ कर, कोई उसे हड़पने की कोशिश करे तो उसके साथ लड़ाई-झगड़ा भी करते हो। कल्पना करो—उस मकान में तुम रात्रि में आराम से सोए हुए हो और उस समय कोई गुंडा आकर तुम्हें बन्दूक दिखा कर कहे, "बाहर निकल जाओ इस मकान में से। इस पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है...यदि नहीं निकलोगे तो तुम्हें गोली से उड़ा दूंगा"।

ऐसी विकट परिस्थिति में तुम क्या करोगे ? 'घर छोड़ दोगे न ?'

परन्तु उस घर को छोड़ते समय तुम्हारे दिल में कितनी

पीड़ा और व्यथा होगी ? ....उस पीड़ा का एक मात्र कारण है— उस घर के साथ जोड़ा गया स्वामित्व सम्बन्ध ।

भाड़े का घर खाली करते समय कुछ भी दुःख नहीं होता है । क्योंकि तुम जानते/मानते हो कि वह घर तुम्हारा नहीं है ।

बस ! यह हमारा देह भी भाड़े का ही घर है । आयुष्य रूपी भाड़ा चुकाया है, उतने ही दिन तक इस घर में रह सकते हैं, अधिक नहीं । उसके बाद इस घर को अवश्य खाली करना ही पड़ता है ।

परन्तु अफसोस ! इस भाड़ के देह-गृह को हमने अपना घर मान लिया है और इसी कारण इस देह का त्याग करते समय, इस देह की ममता के कारण हमें अत्यन्त ही पीड़ा का अनुभव होता है ।

यह 'देह' हमारा चिर-स्थायी घर नहीं है । यह तो कर्म राजा ने भाड़े से रहने के लिए दिया है, अतः भाड़े की अवधि पूर्ण होते ही इसे अवश्य खाली करना ही पड़ेगा ।

यह 'देह' हमारा वास्तविक घर नहीं है, इस प्रकार का सम्यग् बोध हो जाय तो इस देह का त्याग करते समय कुछ भी दुःख और पीड़ा का अनुभव नहीं होगा । समता व समाधिपूर्वक देह का त्याग कर सकेंगे और क्रमशः शाश्वत-पद के भोक्ता बन सकेंगे ।

मौत निश्चित होते हुए भी उसके आगमन की तिथि/तारीख का पता नहीं है, वह दिन में भी आ सकती है और रात में भी एक तारीख से लेकर इकतीस तारीख तक और जनवरी से लेकर

दिसम्बर तक किसी भी मास में....और सोमवार से लेकर रविवार तक किसी भी दिन आ सकती है, उसके लिए किसी भी स्थान पर आने का प्रतिबन्ध नहीं है ।

अत: अत्यन्त ही सावधान और अप्रमत्त बनकर जीवन जीना चाहिये, ताकि किसी भी समय आने वाली मृत्यु का हम स्वागत (Welcome) कर सकें ।

परिवार में सभी को धर्मलाभ ।

शेष शुभ ।

—रत्नसेन विजय

पल भर का विश्वास नहीं,
कल का तू क्या विश्वास करे ?
माया के झूठे बन्धन में,
जीवन का क्यों तू ह्रास करे ?

5

> व्यक्ति के हृदय की वेदना को कौन जान सकता है ? नोबल पुरस्कार विजेता अर्नेस्ट हेमिंग्वे ने आत्महत्या कर अपने जीवन का अन्त ला दिया था ।

प्रिय मुमुक्षु 'दीपक' !

धर्मलाभ ।

परमात्मा की असीम कृपा से आनन्द है । अरिहंत-परमात्मा तो करुणा के महासागर हैं । वे तो जगत् के भव्य जीवों पर सतत करुणा-वृष्टि कर ही रहे हैं बशर्ते कि उस करुणावृष्टि को ग्रहण करने के लिए हम पात्र बनें, सुपात्र बनें ।

कल ही तुम्हारा पत्र मिला, पढ़ा, आनन्द हुआ ।

'मृत्यु में समाधि कैसे प्राप्त हो ?' तुम्हारी इस जिज्ञासा ने मुझे भी चिन्तन के लिए प्रेरित किया ।

'मृत्यु' के द्वारा हम देह का त्याग करते हैं ।

शास्त्र में लिखा है—'मृत्यु के समय जो पीड़ा होती है, वह पीड़ा वाणी से अवाच्य है । अग्नि में तपाने से लालधूम बनी हुई लोहे की हजारों सुइयों को शरीर में चारों ओर से भोंका जाय'.... तो तू ही विचार कर उस व्यक्ति को कितनी पीड़ा होगी ?

पूर्वाचार्य महर्षि कहते हैं कि उससे भी अनेक गुणी पीड़ा 'मृत्यु' के समय होती है ।

....तो फिर ऐसी भयंकर पीड़ा में चित्त की समाधि कैसे रह सकती है । यह प्रश्न विचारणीय है ।

इस प्रश्न का विस्तृत जवाब देने के साथ ही 'समरादित्य-चरित्र' के दूसरे भव का चरित्र मेरे समक्ष आ खड़ा होता है । अत्यन्त ही करुण और हृदय-द्रावक चित्र है ।

• आनन्दकुमार ने अपने पिता 'सिंह' राजा को भयंकर कारावास में डाल दिया है । कारावास का वातावरण अत्यन्त ही विषम है, चारों ओर से भयंकर दुर्गंध आ रही है । कोने में गन्दगी के ढेर पड़े हैं । परन्तु सिंह राजा के मुख पर प्रसन्नता छाई हुई है, उनके हृदय में एकमात्र इस बात का दु:ख है कि वे समय रहते चारित्र स्वीकार नहीं कर पाए । 'अब क्या हो ?' भाव से चारित्र स्वीकार कर उन्होंने चारों प्रकार के आहार का त्याग कर अनशन कर दिया । वे आत्म-समाधि/आत्म-ध्यान में लीन बन गए ।

थोड़ी ही देर बाद भोजन का समय होने पर आनन्दकुमार ने अपने नौकर के द्वारा सिंह राजा के लिए भोजन का थाल भेजा । परन्तु अणाहारी पद के उपासक सिंह महात्मा ने आहार-ग्रहण करने से मना कर दिया ।

उस नौकर ने जाकर आनन्दकुमार को यह बात कही । यह बात सुनते ही आनन्दकुमार रोष से धमाधम उठा और बड़बड़ाने लगा, 'मेरी आज्ञा को भंग करने की ताकत ? अभी उसे खत्म कर दूंगा ।'

बस ! हाथ में नंगी तलवार लेकर रोष से धमधमाता हुआ आनन्दकुमार कारावास में आ पहुँचा और बोला—'आहार ग्रहण करो····अन्यथा यह नंगी तलवार तुम्हारा शिरोच्छेद कर देगी।'

शायद तूने **'समरादित्य-चरित्र'** पढ़ा या सुना होगा ? न पढ़ा हो तो अवश्य पढ़ लेना। भव-विरक्ति को जगाने वाला यह एक अनमोल ग्रंथ है।

आनन्दकुमार के मुख से इस प्रकार के कठोर वचन सुनकर भी सिंह महात्मा भयभीत नहीं हुए। वे अत्यन्त मधुर-स्वरों में बोले—**'नाऽहं मृत्योर्बिभेमि'** मुझे मृत्यु का भय नहीं है। वे निर्भय थे····मौत उनके सामने खड़ी थी····किन्तु मौत का उन्हें कोई भय नहीं था। क्योंकि उन्होंने जीवन के यथार्थ स्वरूप को जान/समझ लिया था।

"मैं आत्मा हूँ, अजर हूँ····अमर हूँ····ज्ञान-दर्शन और चारित्र आदि मेरे गुण हैं····अग्नि मुझे जला नहीं सकती है····पानी मुझे गला नहीं सकता है····पवन मुझे उड़ा नहीं सकता है। शस्त्र के प्रहार से मैं खण्डित होने वाला नहीं हूँ। शस्त्र से देह का छेद हो सकता है, आत्मा का नहीं। अग्नि से शरीर जल सकता है, आत्मा नहीं। पानी से देह नष्ट हो सकता है आत्मा नहीं। देह विनाशी है····मैं अविनाशी हूँ। आत्मा के लिए शरण्यभूत जिन-धर्म है····और उस धर्म की मुझे प्राप्ति हो गई है····अतः मुझे किस बात का भय ? जिन-धर्म ने मुझे निर्भय बना दिया है।" बस ! इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा और विश्वास के बल पर ही सिंह राजा बोल उठे—'मुझे मृत्यु का कोई भय नहीं है।'

• देवकीनन्दन गजसुकुमाल मुनि नगर के बाहर श्मशान भूमि

में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े थे। उनके मुख पर आत्म-ध्यान का आनन्द था···घंटों से वे कायोत्सर्ग ध्यान में मस्त थे···इसी बीच सौमिल ब्राह्मण का वहाँ आगमन हुआ। गजसुकुमाल को मुनिवेष में देखकर सौमिल का पारा सातवें आसमान पर चढ़ गया···अत्यन्त रोषायमान होकर वह सोचने लगा, 'अरे! इस दुष्ट ने मेरी लड़की की जिन्दगी नष्ट कर दी···यह तो बन गया बाबा···मेरी बच्ची का क्या हाल होगा?....अभी मैं इसको सबक सिखाता हूँ।'··इस प्रकार विचार कर उसने आसपास नजर डाली। पास ही में एक चिता में जलते हुए अंगारे पड़े थे।

बस! वैर का बदला लेने की भावना से उसने पास में से थोड़ी भीगी हुई मिट्टी उठाई और मुनि के मस्तक पर चारों ओर मिट्टी की पाल बनाकर उसमें जलते हुए अंगारे भर दिए और स्वयं वहाँ से चल पड़ा।

गजसुकुमाल मुनि के मस्तक पर अंगारे पड़े हुए हैं···वे उनके मस्तक को जला रहे हैं···फिर भी मुनि के मुख पर प्रसन्नता है, वे स्थिर-चित्त खड़े हैं, सोच रहे हैं—'यह अग्नि मेरे असंख्य प्रदेशों में से एक भी प्रदेश को जला नहीं रही है और न ही जलाने में समर्थ है। जो जल रहा है···वह मैं नहीं हूँ और जो 'मैं हूँ' वह जल नहीं रहा है···तो मुझे किस बात की चिन्ता? हाँ! यदि मैंने मस्तक हिला दिया तो अंगारे नीचे गिर जाएंगे और भूमि पर रहे निरपराध जीव बेमौत मारे जाएंगे···अतः मुझे अपने मस्तक को स्थिर रखना चाहिये—इस प्रकार सोचते हुए वे अपने मस्तक को लेश भी नहीं हिलाते हैं···वे शुक्ल ध्यान की धारा में आगे बढ़ते हैं और क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर समस्त घाती-अघाती कर्मों का क्षय कर देते हैं। अग्नि उनके स्थूल देह को

जलाती है,....परन्तु उस भयंकर वेदना में रखी गई समता के बल से वे अपने समस्त कर्मों को भस्मीभूत कर देते हैं और अनादिकाल से आत्मा में घर कर गए तैजस और कार्मण शरीर को भस्मीभूत कर अजरामर पद को प्राप्त कर लेते हैं।

देह के विनाश से गजसुकुमाल मुनि भयभीत नहीं बने। क्यों? क्योंकि देहभिन्न आत्मा के यथार्थ स्वरूप के वे ज्ञाता थे। उनके मन में आत्मा मूल्यवान वस्तु थी और देह तुच्छ थी।

• याद करें—अर्णिकापुत्र आचार्य को। गंगा नदी पार करते समय पूर्व भव की दुष्ट देवी ने उन्हें भाले से बींध दिया था। उनके देह से खून की धारा बह रही थी ...फिर भी उन्हें अपने देह की कोई चिन्ता नहीं थी....वे सोच रहे थे "ओहो! मेरे शरीर से निस्सृत रक्त की बूंदों से पानी के उन जीवों को कितनी पीड़ा होती होगी?"

स्व देह की पीड़ा का उन्हें विचार भी नहीं था....और अप्काय के जीवों के रक्षण के लिए वे चितातुर थे। धीरे-धीरे वे क्षपक-श्रेणी पर आरोहित हुए और क्षण भर में तो समस्त कर्मों का क्षयकर शाश्वत-पद के भोक्ता बन गए।

मौत उन्हें भयभीत न कर सकी। क्यों? क्योंकि उन्हें स्पष्ट बोध था कि इस भाले से मेरा देह तो नष्ट हो सकता है.... परन्तु यह भाला मेरे एक भी आत्मप्रदेश को बेधने में समर्थ नहीं है।

मौत के प्रसंग में भी उनके मुख पर प्रसन्नता थी....मरणान्त कष्ट को भी उन्होंने समता भाव से स्वीकार किया था।

मृत्यु की पीड़ा में समाधि-प्राप्ति का एक उपाय है....आत्म-स्वरूप का चिन्तन ।

मुमुक्षु 'दीपक' !

पूर्व-भव के पापोदय/अशुभोदय और असाता के उदय से जीवन में अनेक प्रकार की रोगादि पीड़ाएँ पैदा होती हैं। पीड़ा के समय यदि यह विचार किया जाय कि 'यह पीड़ा तो कर्मजन्य है और देह को हो रही है, मैं तो उससे सर्वथा भिन्न हूँ'। इस प्रकार छोटी-छोटी पीड़ाओं में विचार करने से और उन दुःखों को समतापूर्वक सहन करने से हमारी सहन-शक्ति बढ़ती जाती है।

जो व्यक्ति छोटे-छोटे दुःखों से घबराता है और आर्त्तध्यान के वशीभूत हो जाता है वह मृत्यु के दुःख में समाधि कैसे रख सकेगा? जो छोटा पत्थर उठाने में भी घबराता हो, वह पर्वत के भार को कैसे सहन कर सकेगा?

तुझे पता ही होगा....श्रमण-जीवन में 'केश-लोंच' का विधान है...इसके पीछे भी यही रहस्य है। 'केश-लोंच के समय शारीरिक-पीड़ा होती है, परन्तु आत्म-स्वरूप के मानसिक-चिन्तन से हम उस पीड़ा को समतापूर्वक सहन कर सकते हैं। 'केश-लोंच' आदि कायिक-कष्ट मृत्यु के दुःख को हँसते मुख स्वीकार करने के लिए पूर्वाभ्यास रूप है।

• महासती मदनरेखा के पति युगबाहु की मणिरथ हत्या कर देता है। युगबाहु के पेट में छुरी भोंककर मणिरथ भाग जाता है। युगबाहु निढ़ाल हो गिर पड़ता है....उसके मुख पर क्रोधाग्नि

भभक उठी है। मदनरेखा ने अपने स्वामी की इस स्थिति को देखा…उसके दिल को बड़ा आघात लगा…परन्तु उसने अपने तात्कालिक कर्त्तव्य का विचार किया…और जोर से रुदन करने के बजाय पति के देह को अपनी गोद में लेकर बैठ गई। 'क्रोध के आवेश में रहकर मेरे स्वामी की दुर्गति न हो जाय, अतः मुझे इनकी आत्म-समाधि के लिए प्रयत्न करना चाहिये' इस प्रकार विचार कर मदनरेखा ने अपने स्वामी को समझाया, 'स्वामिन्! आप शान्त बनें। धैर्य रखें! आपके दिल में ज्येष्ठ बन्धु मणिरथ के प्रति रोष है…परन्तु क्रोध करना उचित नहीं है मणिरथ तो निमित्त मात्र है, जीवन में जिस किसी भी सुख-दुःख की प्राप्ति होती है, उसमें मुख्य कारण तो अपनी आत्मा स्वयं ही है। शुभ कर्म के उदय से सुख और अशुभ कर्म के उदय से दुःख मिलता है। अपने अशुभकर्म का उदय है, अतः मणिरथ पर रोष करना उचित नहीं है…वह तो बेचारा निमित्त मात्र है। वह तो वासनाओं का गुलाम है…उसको यह पाप कराने वाला काम और क्रोध है। काम-क्रोध के आधीन बनी आत्मा तो दया को पात्र है। अतः स्वामिन्! आप क्रोध का त्याग करदें।'

महासती मदनरेखा की वात्सल्यपूर्ण प्रेरणा प्राप्त कर युगबाहु शान्त हो जाता है…क्रोध का आवेश धीरे-धीरे दूर होने लगता है।

मदनरेखा कहती है—'स्वामिन्! दुनिया में जो भी जन्म लेता है, उसे एक दिन अवश्य मरना ही पड़ता है…जन्म के बाद मृत्यु अवश्यंभावी है। जो घटना अवश्य बनने वाली है, उसे कसे रोका जा सकता है? और जो घटना रुकने वाली नहीं है…उसके पोछे शोक और सन्ताप करना व्यर्थ ही है। आप तो

सत्त्वशाली हो। सत्त्वशाली पुरुष मृत्यु से घबराते नहीं हैं....वे तो मृत्यु का स्वागत करते हैं। वे तो मृत्यु को महोत्सव रूप बनाते हैं। मृत्यु को महोत्सव बनाने वाली आत्माएँ ही 'वीर-मृत्यु' को प्राप्त करती हैं।

'आप मृत्यु से घबराएँ नहीं। हमें देवाधिदेव वीतराग परमात्मा का शासन मिला है। अतः आप मृत्यु को समाधिमय बनाने के लिए सज्ज बनें। जीवन में व्रत-पालन में जो कुछ भी अतिचार लगे हों, उनकी गर्हा करें, निन्दा करें।'

महासती मदनरेखा अपने स्वामी को श्रावक-जीवन के व्रतों में लगे अतिचारों की गर्हा करवाती है।

अतिचारों की आलोचना के बाद मदनरेखा अपने स्वामी को व्रतों का स्वीकार करवाती है और उसके बाद सर्व जीवों से क्षमापना कराती हुई कहती है....'इस जगत् में जितने भी प्राणी हैं, उनसे भूतकाल में हुए अपराधों की क्षमापना करो। जगत् के समस्त जीवों के साथ मैत्री-भाव धारण करो। इस दुनिया में हमारा कोई भी शत्रु नहीं है....सभी जीव हमारे मित्र हैं। इस जीवन में जिन-जिन व्यक्तियों के साथ वैरभाव हुआ हो, उनसे हृदय से क्षमा-याचना करो। मणिरथ के प्रति भी वैरभाव न रखो, उसके साथ भी क्षमापना कर लो।'

'हे स्वामिन्! देह विनाशशील है....आत्मा अविनाशी है। देह के नाश से अपना कोई विनाश नहीं होता है....अतः देह-भिन्न आत्मा की अमरता का विचार करो....आत्मा की अमरता का चिन्तन करो।'

"इस जगत् में आत्मा के लिए मात्र चार ही शरण्य हैं। आप अरिहंत की शरणागति स्वीकार करो। बोलो—'अरिहंते

सरणं पव्वज्जामि'····युगबाहु धीरे से बोलते हैं। 'अरिहंते सरणं पव्वज्जामि।' आप सिद्ध भगवन्तों की शरणागति स्वीकार करो। बोलो—'सिद्धे सरणं पव्वज्जामि'; युगबाहु बोलता है 'सिद्धे सरणं पव्वज्जामि।'

आप निर्ग्रंथ मुनियों की शरणागति स्वीकार करो। बोलो—'साहू सरण पव्वज्जामि।' युगबाहु कहता है—'साहू सरणं पव्वज्जामि।' आप केवलीप्ररूपित जिन-धर्म की शरणागति स्वीकार करो। बोलो—'केवलीपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।'

युगबाहु भी मदनरेखा का अनुसरण करते हुए बोलता है, 'केवलीपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।'

हे स्वामिन्! अरिहंतादि ही इस जगत् में शरण्य हैं, शरणदाता हैं। वे ही अभय के दाता हैं, शरण के दाता हैं।

आप अपने मन को अरिहंत के ध्यान में जोड़ दें। देह, कुटुम्ब, परिवार, महल आदि पर से मूर्च्छा का त्याग करदें।

आत्मा के सर्जन में देह का विसर्जन कर दें।"

प्रेरणामूर्ति महासती मदनरेखा की वात्सल्यपूर्ण प्रेरणाओं के सरोवर में डूबकर युगबाहु की आत्मा ने परम-शांति का अनुभव किया।

युगबाहु के मुख-मंडल पर प्रसन्नता छा गई। वे अरिहंत के ध्यान में लीन बन गए और शरण्य अरिहत की शरण स्वीकार कर····सहज भाव से देह का त्याग कर समाधिमृत्यु को प्राप्त कर ब्रह्मदेवलोक में देव के रूप में उत्पन्न हुए।

मुमुक्षु 'दीपक' !

आपातकालीन स्थिति में अपने स्वामी युगबाहु को समाधि प्रदान करने वाली महासती मदनरेखा का चरित्र अत्यन्त रोमांचक है। अपने पति को समाधि दिलाकर सचमुच ही उसने 'धर्मपत्नी' का कर्त्तव्य अदा किया था।

इतिहास के सुवर्ण-पृष्ठों पर अंकित इस प्रकार के प्रेरक प्रसंग/चरित्र जब-जब भी पढ़ता हूँ....हृदय रोमांचित हो उठता है और हृदय से ये शब्द निकल पड़ते हैं—**प्रभो ! देहि मे समाधि-मरणम् ।**

मानव-जीवन के प्रत्येक पल को धन्य बनाने की वृत्ति-प्रवृत्ति के साथ-साथ मृत्यु के अन्तिम पल को भी धन्य बनाना जरूरी है।

सचमुच ही जीवन की सच्ची सफलता 'समाधि-मृत्यु' के आधीन ही है।

हाँ ! पत्र लिखने में मुझे समय व पृष्ठ-मर्यादा का ध्यान ही न रहा। मैं भी लिखने में तन्मय बन गया। बस ! अब विराम लेता हूँ।

पत्र मिलने पर अपनी प्रतिक्रिया लिखना। कोई प्रश्न उठे....तो वह भी निःसंकोच लिखना। यथाशक्य समाधान के लिए प्रयत्न करूंगा।

परिवार में सभी को धर्मलाभ। जिन-धर्म आराधना में उद्यमवंत रहना। शेष शुभ—

—रत्नसेनविजय

6

> मृत्यु निश्चित है और अनिश्चित भी। मृत्यु होगी यह निश्चित बात है, किन्तु कब होगी—यह अनिश्चित बात है।

प्रिय मुमुक्षु 'दीपक'!

धर्मलाभ।

परमात्मा की असीम कृपा से आनन्द है। अहमदाबाद से विहार कर कल ही यहाँ सानन्द पहुँचे हैं।

आज पूज्यपाद भवोदधितारक अध्यात्मयोगी गुरुदेव पंन्यास-प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री की नौवीं स्वर्गारोहण तिथि है। वैसे तो पू. गुरुदेवश्री को याद हृदय में सदैव रहती है····परन्तु आज के दिन उनकी स्मृति प्रति पल हो रही है। पू. गुरुदेव का मुझ पर असीम उपकार है।

संसारतारक पू. गुरुदेव के उपकार का बदला हम कभी नहीं चुका सकते हैं।

पूज्य उपाध्यायजी म. ने ठीक ही कहा है—

समकितदायक-गुरुतणो, पच्चुवयार न थाय।

गुरुदेवश्री की उपकार-स्मृति के साथ ही पूज्य **उमास्वातिजी** का वचन याद आ जाता है—

दुष्प्रतिकारौ मातापितरौ, स्वामीगुरुश्च लोकेऽस्मिन् ।
तत्र गुरुरिहामुत्र, च स दुष्करतरप्रतिकारः ।।

लौकिक उपकारी ऐसे माता-पिता, स्वामी और विद्यागुरु का उपकार दुष्प्रतिकार है और उसमें भी संसारतारक धर्मगुरु का उपकार तो अत्यन्त ही दुष्प्रतिकार है ।

माता-पिता देह के पालक और पोषक हैं, जबकि धर्म-दाता गुरु आत्मा के पालक और आत्मगुणों के पोषक हैं ।

आज से नौ वर्ष पूर्व कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी म. से पावन बनी पाटण भूमि में पूज्यपाद गुरुदेवश्री ने भौतिक देह का त्याग किया है ।

मृत्यु के पूर्व उनके मुख-वदन पर प्रसन्नता थी····आँखों में करुणा और समता थी । पाक्षिक-प्रतिक्रमण की प्रत्येक क्रिया अत्यन्त जागृतिपूर्वक वे कर रहे थे····देह जर्जरित हो चुका था परन्तु उनका मनोबल अत्यन्त दृढ़ था ।

पाक्षिक प्रतिक्रमण की परम पवित्र क्रिया के द्वारा जगत् के जीवों के साथ क्षमायाचना करने के बाद नमस्कार-महामंत्र के ध्यान और श्रवण में वे लीन हो चुके थे····और ठीक आठ बजकर दस मिनिट पर उन्होंने अपने नश्वर देह का सदा के लिए त्याग कर दिया ।

महान् आत्माएँ मृत्यु से घबराती नहीं हैं । वे तो प्रसन्नता-

पूर्वक मृत्यु का स्वागत करती हैं। समता और समाधि के द्वारा वे अपनी मृत्यु को भी महोत्सव रूप बना देती हैं।

महापुरुषों की विदाई भले ही जगत् के लिए शोक का कारण बने, परन्तु वह मृत्यु उनके लिए तो महोत्सव रूप ही होती है।

समाधि-मृत्यु के द्वारा वे अमरता की ओर कदम बढ़ाते हैं। महापुरुषों के लिए, जिस प्रकार उनका जीवन उनके उत्थान का कारण बनता है, उसी प्रकार मृत्यु भी उनके विकास में ही सहायक होती है। इसीलिए तो कहता हूँ—'जिस प्रकार महापुरुषों का जीवन, आदर्श रूप होता है, उसी प्रकार उनकी मृत्यु भी जगत् के जीवों के लिए आदर्श रूप होती है। वे अपने जीवन द्वारा How to live life ? 'जीवन कैसे जिया जाय' सिखाते हैं तो मृत्यु के द्वारा How to die ? 'किस प्रकार मौत का स्वागत किया जाय ?' यह बात भी सिखाते हैं।

उनका जीवन आदर्शमय !
उनकी मृत्यु आदर्शमय !

योग्य जीवन के लिए योग्य कला का अभ्यास जरूरी है, उसी प्रकार योग्य मृत्यु के लिए मृत्यु की कला का अभ्यास भी जरूरी है।

जिन्हें जीवन जीने की कला का भान नहीं है, वे तो कभी के मर चुके हैं। किसी कवि की ये पंक्तियाँ याद आ जाती हैं—

यूँ तो जीने के लिए लोग जिया करते हैं,
लाभ जीवन का नहीं, फिर भी जिया करते हैं।
मृत्यु से पहले मरते हैं हजारों लेकिन,
जिन्दगी उनकी है, जो मर-मरकर जिया करते हैं।।

मुमुक्षु दीपक ! तुझे याद है न ? हम प्रतिदिन **'लोगस्स सूत्र'** (नाम-स्तव) के द्वारा परमात्मा से **'समाहि वरमुत्तमं दितु'** 'श्रेष्ठ समाधि प्रदान करो' की प्रार्थना करते हैं....और पुनः प्रार्थना-सूत्र (जय वीयराय सूत्र) के द्वारा **'समाहिमरणं च'** कहकर 'समाधि-मृत्यु' की प्रार्थना करते हैं।

शायद तेरे दिल में प्रश्न खड़ा हो सकता है—'एक ओर जैनागमों में मृत्यु की इच्छा को पाप माना गया है और दूसरी ओर परमात्मा से मृत्यु' की प्रार्थना की गई है, ऐसा क्यों ?

महापुरुषों ने तुम्हारी इस शंका का समाधान इस प्रकार किया है। 'दुःख और दर्द भरी अवस्था में मृत्यु की इच्छा करना पाप है। इस प्रकार मृत्यु की इच्छा से सल्लेखना-व्रत में अतिचार लगता है।'

अनुकूलता में जीने की इच्छा, प्रतिकूलता में मृत्यु की इच्छा दोनों पाप है....परन्तु 'लोगस्स-सूत्र' और 'जय वीयराय' सूत्र में मृत्यु की प्रार्थना नहीं की गई है....वहाँ तो मात्र आने वाली मृत्यु में 'समाधि' की ही प्रार्थना की गई है।

जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। जो जन्मा है, हजारों उपायों के द्वारा भी उसे मृत्यु से बचाया नहीं जा सकता है। जो जन्मा है, उसके ललाट में मृत्यु की सजा अंकित है।

गंगा नदी का उद्गम स्थल हिमालय है और वह सैकड़ों मील पृथ्वी पर बहकर समुद्र में लीन हो जाती है। गंगा का उद्गम स्थल बहुत छोटा है और समुद्र में मिलन का स्थल भी छोटा ही है। उद्गम स्थल और समुद्र में विलय-स्थल के बीच उसका प्रवाह होता है। प्रवाह में बहती हुई गंगा नदी प्रतिक्षण समुद्र की ओर आगे बढ़ रही होती है। बस! इसी प्रकार जन्म और मृत्यु के दो किनारों के बीच हमारी जीवन-यात्रा बह रही होती है और उस जीवन-यात्रा के प्रत्येक पल द्वारा हम मृत्यु की ओर/मृत्यु की दिशा की ओर ही बढ़ रहे होते हैं।

इससे स्पष्ट है कि मृत्यु तो हमारे लिए निश्चित ही है। अपने जीवन द्वारा व्यक्ति जिन-जिन वस्तुओं और व्यक्तियों से सम्बन्ध जोड़ता है, उनके प्रति ममत्व को धारण करता है। परन्तु मृत्यु उन सम्बन्धों को तत्क्षण तोड़ देती है। जिस प्रकार कैंची वस्त्र के दो टुकड़े कर देती है, उसी प्रकार मृत्यु अपने स्वामित्व-सम्बन्ध को तत्क्षण तोड़ देती है।

सम्बन्ध का टूटना अलग बात है और ममत्व का त्याग अलग बात है। दुनिया से सम्बन्ध तोड़ने के बावजूद भी यदि दिल से ममता का त्याग/विसर्जन न हो तो उस ममत्व के कारण सतत कर्मबन्ध चालू ही रहता है।

कर्म-सिद्धान्त अत्यन्त सूक्ष्म है। वस्तु के सद्भाव और अभाव मात्र से कर्म-बंध के सद्भाव और अभाव का कोई नियम नहीं है।

इसीलिए तो परिग्रह की व्याख्या करते हुए भगवान महावीर प्रभु ने कहा है—**'मूर्च्छा परिग्रहः'**। जहाँ मूर्च्छा है, वहाँ परिग्रह

है। मूर्च्छापूर्वक ग्रहण किए गए धर्मोपकरण भी अधिकरण रूप/परिग्रह रूप बन जाते हैं।

मृत्यु में समाधि अर्थात् इस जीवन में किए गए समस्त सम्बन्धों का सहज भाव से विसर्जन/त्याग।

व्यक्ति और वस्तुओं के साथ किए-गए सम्बन्धों को तो मृत्यु तोड़ डालती है···परन्तु उन पदार्थों के प्रति रही हुई ममता का त्याग, हमारी इच्छा के अधीन है।

ममता ही बन्धन का कारण है और ममता का विसर्जन बन्धन-मुक्ति का उपाय है।

सामान्यतः हर व्यक्ति को सबसे अधिक राग स्व-देह पर होता है। देह के राग को तोड़ना अत्यन्त कठिन है।

• बम्बई में चीरा बाजार में सेठ अमीचन्द की दुकान है। सेठ का अपना छोटा सा परिवार है। सेठजी का आवास-निवास भायखला में है। एक बार सेठ अमीचन्द ने अपने जन्म-दिन के नाते अपने घर पर अपने निकट मित्रों को भोजन के लिए आमंत्रण दिया। भोजन का समय हुआ और सभी मित्र समय पर उपस्थित हो गए। वातानुकूलित कमरे में सभी मित्र भोजन के लिए टेबल-कुर्सी पर बैठ गए····और तत्क्षण सबके सामने सुन्दर व सुगन्धित मिठाई और नमकीन से भरी थाली आ गई। सेठ अमीचन्द भी भोजन के लिए बैठ गए····सेठ भोजन चालू करने ही वाले थे कि इतने में टेलीफोन की घंटी बज उठी। सेठ ने फोन उठाया।

बाजार से मुनीम का फोन था—"सेठजी! आप शीघ्र ही दुकान पर आ जाएँ....एक बड़ा व्यापारी आया है....आप आओगे तो १०,०००) रु० के फायदे की सम्भावना है।"

बस! १०,०००) रुपये के लाभ की बात सुनते ही सेठ खड़े हो गए और मित्रों से बोले, "मैं अभी ५ मिनट में आता हूँ....आप भोजन चालू रखें।"....और वे तुरन्त ही गाड़ी में बैठकर दुकान पर आ गए। भूख लगी होने पर भी सेठ ने खाना छोड़ दिया। क्यों? भोजन से अधिक राग धन पर है।

सेठजी एक बार दुकान पर बैठकर ग्राहकों से सौदा कर रहे थे....इसी बीच घर से पत्नी का फोन आया 'बच्चा सीढ़ी से नीचे गिर गया है....सिर में भयंकर चोट लगी है....उसे अस्पताल ले जाना है।'....बस। सेठजी ने फोन रखा और ग्राहक से बोले—"ठहरो! मैं अभी आता हूँ।" और वे गाड़ी में बैठकर घर आ गए और बच्चे को तत्क्षण अस्पताल ले गए।

सेठजी ग्राहक को छोड़कर खड़े हो गए। क्यों? क्योंकि धन से भी अधिक राग सन्तान पर है।

कुछ समय बाद सेठजी की पत्नी गर्भवती बनी। गर्भ का काल पूरा होने आया था....और अचानक पत्नी की स्थिति गम्भीर हो गई, तुरन्त ही उसे अस्पताल में भर्ती कराया गया। डॉक्टर ने जाँच करके कहा—"हालत गम्भीर है। दो में से एक बच सकता है। बोलो, किसको बचाऊँ? पत्नी को या सन्तान को?"

बस! तत्क्षण सेठ ने कहा—"पत्नी को।" पुत्र को

मरवाकर भी पत्नी को बचाया। क्यों ? क्योंकि नवागत पुत्र से भी अधिक राग पत्नी पर है।

सेठ अमीचन्द पहली मंजिल के मकान में रहते हैं। रविवार का दिन था पत्नी रसोड़े में बैठकर रसाई बना रही थी।

अचानक उस भवन में आग लग गई। आवाज सुनकर सेठ भी गैलेरी में आए....चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था। लोगों ने सेठजी को पुकारा, 'सेठजी ! कूद पड़ो....बच जाओगे अन्यथा मर जाओगे।'

मृत्यु के भय को नजर समक्ष देखकर सेठजी तुरन्त ही कूद पड़े....उन्होंने पत्नी की भी उपेक्षा कर दी।

पत्नी पर प्रेम जरूर था, फिर भी अपनी मौत को देखकर वे पत्नी को भूल गए, ऐसा क्यों ? क्योंकि पत्नी से भी अधिक राग स्व-देह पर था।

इससे स्पष्ट है कि सामान्यत: जनमानस के हृदय में भोजन धन-पुत्र-पत्नी और स्वदेह पर क्रमश: अधिक-अधिक राग होता है और उत्तर-उत्तर वस्तु को बचाने के लिए वह पूर्व-पूर्व वस्तु का त्याग भी कर देता है।

सबसे अधिक राग देह पर है। अनादिकाल से आत्मा बहिरात्म दशा में रही हुई है। बहिरात्म दशा का लक्षण है—**'आत्मबुद्धिः शरीरे।'**

देह में आत्मबुद्धि यही बहिरात्म दशा का लक्षण है।

मोहाधीन आत्मा देह में ही आत्मबुद्धि करके सदैव उसके पालन-पोषण और रक्षण के लिए उद्यत होती है।

संसार में आत्मा सदेही अवस्था में रहती है....अतः जिस भव में जो देह मिला, उस पर हमने राग किया। चींटी के भव में चींटी के देह पर राग किया....तो हाथी के भव में हाथी के देह पर राग किया।

स्व-देह के तीव्र राग और आसक्ति के कारण उस देह के रक्षण आदि के लिए सभी प्रकार के पापाचरण किए। हिंसा भी की....और झूठ भी बोले....चोरी भी की....क्रोध भी किया और मान भी किया। ऐसा कोई पाप नहीं है....जो पाप बहिरात्म दशा में देह के रक्षण आदि के लिए नहीं किया हो।

जब आत्मा पर से मोह का साम्राज्य दूर होता है और आत्म-स्वरूप की पहिचान होती है, तभी देह से भिन्न, आत्मा में आत्मबुद्धि पैदा होती है।

आत्मा में आत्मबुद्धि होने पर आत्मा अन्तरात्म-दशा को प्राप्त करती है। अन्तरात्म-दशा की प्राप्ति होने पर देहभिन्न आत्मा का बोध होता है।

'यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः सोऽन्तरात्मा मतः'

जिसे आत्मा में आत्मा का निश्चय हो गया है, उसे अन्तरात्मा कहते हैं।

परमात्म-दशा की प्राप्ति के लिए बहिरात्म-दशा का त्याग और अन्तरात्म-दशा को स्वीकृति अत्यन्त अनिवार्य है।

अन्तरात्म-दशा की प्राप्ति बिना परमात्म-दशा की प्राप्ति सम्भव ही नहीं है ।

प्रिय 'दीपक' !

ज्यादा न हो सके तो कम-से-कम इस जीवन में आत्मा के स्वरूप का यथार्थ बोध तो कर ही लेना होगा ।

आत्म-स्वरूप के यथार्थ बोध के बाद तुझे दुनिया के सुख स्वतः तुच्छ प्रतीत होंगे—फिर उन सुखों के त्याग के लिए स्वतः ही अन्तःप्रेरणा प्राप्त होगी ।

आत्मा तो सुख का अक्षय भण्डार है और वह सुख स्वाधीन, यथार्थ, दुःखरहित और चिरस्थायी है ।

अध्यात्म-साधना में प्रयत्नशील बने रहो, इसी शुभेच्छा के साथ—

—रत्नसेनविजय

मूर्च्छा मृत्यु है,
आत्मजागृति ही जीवन है ।

7

> प्रत्येक वस्तु प्रतिपल जीर्ण हो रही है। सच तो यह है कि जिस दिन बच्चा पैदा हुआ उसी दिन से उसका जीर्ण होना प्रारम्भ हो गया है।

मुमुक्षु 'दीपक' !

धर्मलाभ ।

वीतराग-परमात्मा की निरन्तर सानुग्रह कृपा-वृष्टि से आनन्द···आनन्द और आनन्द है। कल ही तुम्हारा वेदना-सभर पत्र मिला।

"कार से अहमदाबाद जाते समय बीच में भयंकर दुर्घटना हो गई····दो साथी तो उसी समय मृत्यु की गोद में सो गए और मुझे भी गहरी चोट लगी····तत्क्षण तो मैं भी बेहोश हो गया था····उसी समय मुझे अस्पताल में भर्ती किया गया····योग्य उपचार हुए···पैर में भयंकर चोट लगने से दिन भर भयंकर वेदना/पीड़ा रहती है और उस पीड़ा की भयंकरता से मन कभी-कभी आर्त्तध्यान के वशीभूत हो जाता है और कभी-कभी तो मृत्यु की भी इच्छा हो जाती है····ऐसी परिस्थिति में चित्त की समाधि और आत्म-शान्ति का आप ही कुछ उपाय बताएँ।"

तुम्हारे ये समाचार पाकर खेद हुआ। 'यद् भावि····तद् भविष्यत्येव' जो भवितव्यता होती है····वह घटना अवश्य बनती ही है····अनन्त सिद्ध भगवन्तों ने अपने ज्ञान में अपना जो पर्याय देखा है····उस घटना/पर्याय को कोई मिथ्या नहीं कर सकता है।

दुनिया में जो भी घटनाएँ बनती हैं, उनमें मुख्यतया पाँच कारण होते हैं—काल, स्वभाव, भवितव्यता, कर्म और पुरुषार्थ। इनके संयोग से ही किसी घटना का निर्माण/सर्जन होता है।

एकाकी भवितव्यता भी कुछ काम नहीं करती है, उसके साथ-साथ अपना कर्म और पुरुषार्थ भी काम करता रहता है।

'गाड़ी का 'एक्सीडेंट' हुआ। दो व्यक्ति तत्क्षण मर गए···· दो व्यक्तियों को भयंकर चोट लगी और एक व्यक्ति का बाल भी बांका नहीं हुआ।'

गाड़ी में पाँचों व्यक्ति बैठे हुए थे····गाड़ी को जोर से टक्कर लगी····फिर भी दो मरे····दो घायल हुए····और एक बच गया···· इसका कारण क्या ?

सर्वज्ञ परमात्मा ने इस घटना का स्वतन्त्र कारण बतलाया है और वह है 'कर्म'। व्यक्तिगत कर्म की स्वतन्त्रता के कारण ही एक ही घटना में भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न फल का अनुभव करते हैं।

अतः इस घटना में स्वकृत कर्म का फल मानकर इस दुःख को स्वीकार करना चाहिये।

जीवन में जो कुछ भी सुख-दुःख आता है—वह सब कुछ अपने ही कर्मों का फल है।

'दुःख' का यह स्वभाव है कि वह आमंत्रण बिना अपने पास नहीं आता है। दुष्कर्म के आचरण द्वारा हम दुःख को आमंत्रण देते हैं और उस आमंत्रण के बाद ही 'दुःख' आता है।

हमने अपने पूर्व भवों में दुष्कर्मों के आचरण द्वारा दुःख को आमंत्रण दिया है और इसी के फलस्वरूप जीवन में दुःख आया है।

आमन्त्रित मेहमान का स्वागत करना हमारा कर्त्तव्य है।

दुःख भी हमारा आमंत्रित मेहमान है, अतः उसके आगमन पर उसका स्वागत करना चाहिये।

शुभ कर्म के फलस्वरूप जो सुख आता है, उस सुख का तो हम हार्दिक स्वागत कर लेते हैं और जो दुःख आता है, उसके आगे No admission without permission का बोर्ड लगा देते हैं।

'मेरी ही भूल की मुझे सजा हुई है' इस प्रकार की सम्यग् श्रद्धा से दुःखानुभूति में अन्तर पड़ जाता है।

'अपनी ही भूल/असावधानी के कारण किसी पत्थर से ठोकर लग जाय····तब हम किसको डाँटते हैं?'

'किसी को नहीं,' उस भूल की सजा सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं।

मुमुक्षु 'दीपक' !

बस। उपर्युक्त बात को तुम श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लोगे तो तुम्हें दुःख की अल्प अनुभूति होगी।

किसी अपेक्षा से किसी भी वस्तु/घटना के सर्जन में दो कारण भी काम करते हैं—(१) उपादान कारण और (२) निमित्त कारण।

इन दोनों कारणों के संयोग से ही वस्तु व घटना का निर्माण होता है, इन दोनों में से एक भी कारण की न्यूनता से कार्य का अभाव हो जाता है। उदाहरण—घड़े के निर्माण में मिट्टी उपादान कारण है और कुम्भकार, चाक, पानी आदि निमित्त कारण हैं।

निमित्त कारण के सहयोग से उपादानभूत मूल द्रव्य ही कार्य रूप में परिणत होता है। मिट्टी रूप उपादान का अभाव हो तो भी घड़े का निर्माण सम्भव नहीं है और मिट्टी के सद्भाव में भी यदि कुम्भकार आदि का अभाव हो तो भी घड़े का निर्माण सम्भव नहीं है।

उसी प्रकार जीवन में जो कुछ भी सुख-दुःख का अनुभव होता है, उसमें उपादान कारण रूप अपनी आत्मा है और निमित्त कारण रूप कर्म हैं।

निमित्त कारण के भी दो भेद हैं—अन्तरंग निमित्त और बाह्य निमित्त।

अन्तरंग निमित्त कर्म हैं और बाह्य निमित्त सुख-दुःख उत्पादक बाह्य पदार्थ हैं।

'उपादान' के बिना 'निमित्त' पंगु ही है। कर्म-बन्धन में 'आत्मा' उपादान कारण है और 'राग-द्वेष' के अध्यवसाय निमित्त कारण हैं।

आत्मा राग-द्वेष के अशुभ/अशुद्ध अध्यवसाय के द्वारा कर्म का बंध करती है और वह अशुभ-कर्म जब उदय में आता है, तब आत्मा दुःख का अनुभव करती है।

इससे स्पष्ट होता है कि जीवन में जो कुछ भी दुःख आता है उसका मूल/वास्तविक कारण 'राग और द्वेष' ही है।

अनुकूलता मिलने पर प्रसन्न होना/खुश होना—राग है।

प्रतिकूलता मिलने पर नाराज होना/नाखुश होना—द्वेष है।

इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गृद्धि, ममत्व तथा आसक्ति आदि राग के ही पर्याय हैं।

ईर्ष्या, रोष, मत्सर, निन्दा, वैर, असूया आदि द्वेष के ही पर्याय हैं।

माया और लोभ कषाय रागस्वरूप हैं।

क्रोध और मान कषाय द्वेष स्वरूप हैं।

कर्म के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली अनुकूलताओं में प्रसन्न होने से/राग करने से कर्म का बंध होता है।

कर्म के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली विपरीत परिस्थितियों में नाराज होने से कर्म का बंध होता है।

सारांश यह है कि अनुकूलता में राग करने से और प्रतिकूलता में द्वेष करने से नवीन कर्मों का बंध होता है।

प्रिय मुमुक्षु !

जरा तुम ही सोचो। थोड़ा शांति से विचार करो।

इस दुर्घटना में मुख्य कारण कौन? इस प्रकार की घटनाओं में हम बाह्य निमित्तों को प्रधानता देकर ड्राइवर आदि पर ही दोषारोपण कर देते हैं....और व्यर्थ ही दुर्ध्यान कर नवीन कर्मों का बंध करते हैं।

ऐसी विकट परिस्थिति में जिनेश्वर भगवन्तों ने हमें सोचने की सम्यग् दृष्टि प्रदान की है।

दुःख आने पर दुःख को अपने ही दुष्कृत का फल मानकर उसे समतापूर्वक सहन करना चाहिये। दुःख में समता धारण करने से आत्मा पूर्वकृत पापकर्मों की निर्जरा करती है और इसके साथ ही नवीन कर्मों के आस्रव-द्वार को बन्द कर देती है।

दुःख में शोक/सन्ताप करने से दुःख घटता नहीं है, बल्कि बढ़ता है। दुःखमुक्ति का मार्ग है—

- सुख में ममता न करे।
- दुःख में दीनता न करे।
- सुख का भोग अनासक्त भाव से करे।

● दुःख का भोग समता से करे।

स्व-दुःख के निवारण की तीव्र इच्छा और उसके लिए 'हाय ! हाय!' करना भी आर्त्तध्यान ही है।

दुःख में समता धारण करने से आत्मा दुःख के भार से हल्की बन जाती है और नवीन कर्मबंध से भी बच जाती है।

जब भयंकर असाता वेदनीय कर्म का तीव्र उदय होता है, तब शरीर में भयंकर वेदना प्रकट होती है—असहनीय वेदना में मृत्यु की इच्छा भी हो जाती है।

प्रिय मुमुक्षु !

तुमने श्रावक-जीवन का अभ्यास किया है। तुम जानते हो कि दुःख में मृत्यु की इच्छा करने से सल्लेखना व्रत में अतिचार/दोष लगता है।

'मृत्यु' कोई दुःख-मुक्ति का उपाय नहीं है।

असाता वेदनीय कर्म का ही यदि तीव्र जोर हो तो व्यक्ति मरकर भी ऐसी ही योनि/गति में पैदा होता है जहाँ वर्तमान अवस्था से भी अधिक दु ख होता है।

आगामी जन्म कहाँ लेना-क्या यह अपने हाथ की बात है ?

यदि अपनी इच्छानुसार ही परलोक का निर्णय हो जाता हो····तब तो हर व्यक्ति चक्रवर्ती के घर ही पैदा होता···दुनिया में एक भी व्यक्ति दुःखी दिखाई नहीं देता।

आयुष्यकर्म के बंध के अनुसार हमें परलोक में जन्म लेना पड़ता है। प्राय: आयुष्य का बंध वर्तमान जीवन के २/३ दो तिहाई भाग बीत जाने के बाद होता है, उस समय बंध न हुआ हो तो अवशिष्ट वर्तमान आयुष्य का दो तिहाई भाग बीतने पर आगामी भव के आयुष्य का बंध होता है...यदि उस समय भी आयुष्य का बंध न हो तो मृत्यु के समय तो आयुष्यकर्म का अवश्य बंध होता ही है।

जरा, विचार कर। आत्महत्या के विचार में/मृत्यु के विचार में आयुष्यकर्म का बंध हो जाय तो सद्गति के आयुष्य का बंध होगा या दुर्गति के ?

हमें उत्तरोत्तर आत्मविकास के पथ पर आगे बढ़ना है।

लोकोत्तर आत्म-उत्थान के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए अध्यवसायों की शुद्धि अत्यन्त ही अनिवार्य है। अध्यवसायों की शुद्धि के लिए सतत जागृति अनिवार्य है।

तीव्र-वेदना में समाधि/समता लाने के लिए एक सुन्दर उपाय है—अपने से अधिक वेदनाग्रस्त जीवों की भयंकर पीड़ाओं का विचार करना।

नरक और निगोद के जीवों की पीड़ा तो हमारे लिए परोक्ष है, किन्तु मनुष्य और तिर्यंचों की पीड़ाओं को तो साक्षात् देख सकते हैं न ?

बम्बई का जसलोक अस्पताल तो तुमने देखा होगा ? जाने साक्षात् नरकागार है। नाना प्रकार की भयंकर वेदनाओं से संत्रस्त मनुष्यों की कैसी विकट हालत है ?

किसी का पैर कटा है....तो किसी का सिर फटा है....कोई हृदयरोग से त्रस्त है....तो कोई डायबीटीज से परेशान। कोई आग से अर्द्ध दग्ध (अधजला) है तो कोई कटे हुए अंगों वाला है।

तिर्यंच पशु-पक्षियों की भयंकर पीड़ाएँ तो साक्षात् देख सकते हैं।

भूख और प्यास से बेमौत/करुण मौत से मर रहे पशुओं की कैसी भयंकर हालत होती है!

मांस-चर्बी-चर्म-हड्डी आदि के लोभ से जीवित पशु भी चीर दिए जाते हैं।

अहा हा...! उस समय उन दीन/मूक पशुओं की क्या हालत होती होगी?

भगवान महावीर की कल्याणकारिणी उस वाणी को याद कर।

"अनिच्छा से दुःख को सहने से अकाम-निर्जरा होती है।"

"इच्छापूर्वक दुःख को सहने से सकाम-निर्जरा होती है।"

अपने दुष्कर्म के उदय से दुःख आ ही गया है तो उसे समता-पूर्वक सहन करने का अभ्यास करना चाहिये।

इस संसार में हमें जो दुःख है, उससे अनेक गुणी पीड़ाएँ अन्य मनुष्य-तिर्यंचों को है और मनुष्य की सर्व पीड़ाओं से भी अनन्तगुणी पीड़ा नरक के जीवों को है। नरक से भी अनन्तगुणी पीड़ा निगोद के जीवों को है।

दुनिया में जितनी भी वेदनाएँ हैं—उन सब का इच्छा/अनिच्छा से भूतकाल में अपनी आत्मा ने अनुभव कर लिया है....दुनिया के सब दुःख सहे हैं।

'वर्तमान की पीड़ा भी हमारे लिए नयी नहीं है।' क्या गजसुकुमाल मुनि के सिर पर ही अंगारे डाले गए? क्या खंधक महामुनि की ही जीवंत चमड़ी उतारी गई? क्या भगवान महावीर के कानों में ही कीले ठोके गए?

नहीं....नहीं। ऐसी भयंकर वेदनाएँ तो हमारी आत्मा ने भी अनेक बार सहन की है, परन्तु फर्क इतना है कि हमने वे सब पीड़ाएँ अनिच्छा से रो-रोकर सहन की हैं।

पूर्व के महापुरुषों ने दुःख के स्वीकारपूर्वक दुःख को सहन किया था और अपूर्व निर्जरा करके कर्म-बन्धन से वे मुक्त बने थे, जबकि हमने उन्हीं पीड़ाओं को अनिच्छा से सहन किया और इसी के फलस्वरूप दुःख भोगते हुए भी नये-नये कर्मों का ही सर्जन किया।

मुझे विश्वास है कि उपर्युक्त मार्गदर्शन तुम्हारे लिए पर्याप्त होगा।

जब-जब भी वेदना में अभिवृद्धि हो तब-तब पूर्व के महापुरुषों पर आई हुई आपत्तियों का विचार करना....उनकी सहनशीलता का विचार करोगे....तो अवश्य ही इस पीड़ा में कुछ राहत मिल सकेगी।

अपने मन को अधिक से अधिक नमस्कार-महामंत्र की साधना में एकाग्र करने हेतु प्रयत्नशील बनो।

बस, आज इतना ही। —रत्नसेनविजय

8

> घड़ी यह नहीं बताती कि समय चल रहा है, किन्तु वह बताती है कि ग्राप समाप्त हो रहे हैं।

प्रिय मुमुक्षु 'दीपक' !

धर्मलाभ।

परमात्मा की ग्रसीम कृपा से ग्रानन्द है। कुछ दिनों पूर्व तुम्हारा पत्र मिला था, परन्तु समयाभाव के कारण शीघ्र पत्र न दे सका। खैर, ग्राज कुछ समय निकाल कर पत्र लिख रहा हूँ।

ग्राज मैं तुम्हें पूर्वाचार्य विरचित **'वैराग्य-शतक'** ग्रन्थ का ग्रास्वादन कराना चाहता हूँ। **'वैराग्य शतक'** एक ग्रद्भुत ग्रन्थ है। किसी ग्रज्ञात पूर्वाचार्य महर्षि की इस कृति का ज्यों-ज्यों रसपान करते हैं, त्यों-त्यों ग्रंतरात्मा में प्रकाश की दिव्य किरण प्राप्त होने लगती है। इस ग्रन्थ में कुल १०४ गाथाएँ हैं। मेरी तो इच्छा है कि तू इस ग्रन्थ को कण्ठस्थ कर ले····मात्र कण्ठस्थ ही नहीं, ग्रात्मस्थ भी करना होगा।

ग्रन्थकार महर्षि ने इसकी एक-एक गाथा में जो मार्मिक उपदेश दिया है, उस पर यदि ध्यानपूर्वक चिन्तन-मनन ग्रौर

निदिध्यासन किया जाय तो सचमुच ही जीवन में वैराग्य की ज्योति प्रज्वलित हो सकती है ।

'**वैराग्य शतक**' ग्रन्थ की ग्राद्य गाथा है—

संसारम्मि असारे, नत्थि सुहं वाहि वेग्रग्गा पउरे ।
जाणंतो इह जीवो, न कुणइ जिणदेसियं धम्मं ।।

'व्याधि-वेदना से प्रचुर इस असार-संसार में लेश भी सुख नहीं है····यह जानते हुए भी जीवात्मा जिनेश्वर भगवन्त द्वारा निर्दिष्ट धर्म का आचरण नहीं करता है ।'

ग्रन्थकार महर्षि कहते हैं कि यह समस्त संसार नानाविध दुःखों से भरा हुआ है । संसार में जन्म की पीड़ा है, जरा अवस्था की पीड़ा है, रोग-शोक की पीड़ा है और मरण की पीड़ा है । जब तक आत्मा कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त नहीं बनती है, तब तक आत्मा को इस संसार में जन्म धारण करना ही पड़ता है । जन्म के साथ मृत्यु जुड़ी हुई है ।

जिसका जन्म है उसका मरण अनिवार्य है । परन्तु हर मरण के बाद जन्म जरूरी नहीं है । आत्म-साधना के बल से जो आत्माएँ कर्मबन्धन से मुक्त हो जाती हैं, उन आत्माओं की अन्तिम मृत्यु होती है····परन्तु उन्हें पुनः जन्म धारण नहीं करना पड़ता है ।

कर्मबन्धन से मुक्त बनी आत्माएँ मृत्यु पर विजय पा लेती हैं, वे सदा के लिए अजर-अमर बन जाती हैं । जीवन की शाश्वतता के साथ-साथ वे अव्याबाध सुख के सागर में सदा काल लीन बन जाती हैं और केवलज्ञान रूपी चक्षु के द्वारा परिवर्तन-

शील जगत् के समस्त भावों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष देखती हैं। दूसरी ओर अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख की स्वामी होने पर भी स्व-स्वभाव की अज्ञानता/मोह के कारण आत्मा दुनिया के क्षणिक भोग सुखों में आसक्त बनती है, जिसके परिणामस्वरूप वह नये-नये कर्मों का बन्ध करती है....और वे कर्म जब उदय में आते हैं, तब नाना प्रकार के भयंकर दुःख सहन करती है।

जरा, शास्त्र-चक्षु से दृष्टिपात करें नरक के जीवों पर। 'ओहो! कैसी भयंकर यातनाएँ ये सहन कर रहे हैं? परमाधामी देव इन नारक जीवों को सतत दुःख पहुँचा रहे हैं। तलवार जैसे तीक्ष्ण हथियारों से उन्हें चीर रहे हैं....भयंकर अग्नि में डाल रहे हैं....अत्यन्त दुर्गन्धमय वैतरणी नदी में डुबो रहे हैं।'

नरक में क्षेत्रकृत वेदना भी कोई कम नहीं है। ज्येष्ठ मास की भयंकर गर्मी से भी अनन्तगुणी गर्मी नरक का जीव सहन करता है। भूख और प्यास से वे सतत संतप्त रहते हैं। अधिकांश जीव आर्त्त व रौद्र ध्यान में समय व्यतीत करते हैं। अपने विभंगज्ञान का उपयोग भी अपने पूर्व भव के शत्रुओं की पहिचान में ही करते हैं....और उन शत्रुओं को पहिचान कर विक्रिया करके एक-दूसरे को दुःख देते रहते हैं। मनुष्यलोक की अपेक्षा नरक में अनन्तगुणी वेदना है।

प्रिय मुमुक्षु !

कदाचित् कोई देव हमें उठाकर नरक के जीवों की पीड़ा के साक्षात् दर्शन करा दे....तो सम्भव है, उस दृश्य को देखते ही हम बेहोश हो जावें।

तुम्हें पता ही होगा कि नरक के जीवों को ये पीड़ाएँ कितने काल तक सहन करनी पड़ती हैं ? **'लघुदंडक सूत्र'** का अभ्यास तुमने किया ही है । तुम जानते ही हो कि नरक के जीवों का जघन्य आयुष्य दस हजार वर्ष और अधिकतम आयुष्य तैंतीस सागरोपम का है । एक सागरोपम में असंख्य वर्ष बीत जाते हैं । उन असंख्य वर्षों में नरक के जीव को क्षण भर भी सुख और शान्ति नहीं है ।

अरे ! नरक की पीड़ा तो परोक्ष है, तिर्यंचों की पीड़ा तो साक्षात् दिखाई देती है न ? क्या बुरे हाल होते हैं उन पशुओं के ! भयंकर दुष्काल में इन पशुओं को भूख-प्यास व गर्मी की भयंकर पीड़ा सहन करनी ही पड़ती है ।

देखो तो जरा—गली में भटकते उस कुत्ते की क्या हालत है ? दर-दर भटकता है किन्तु रोटी का टुकड़ा भी उसे खाने को नहीं मिल पा रहा है । उसकी काया रोगों से घिरी हुई है । भूख और प्यास के मारे उसकी हालत दयनीय बनी हुई है····फिर कोई उस पर दृष्टिपात भी नहीं करता है ।

अरे ! उस बकरे की हालत तो देखो । क्रूर व निर्दय कसाई उसे कत्लखाने में घसीट कर ले जा रहा है और वह जोर-शोर से बें-बें कर रहा है । कौन सुनता है उसकी आवाज को ?····कुछ ही क्षणों में उसकी गर्दन पर छुरी चल पड़ती है ।

जरा देखो उस सूअर को । ये निर्दय लोग उसे जाल में फँसाने की कोशिश कर रहे हैं और वह दूर-दूर भागने की कोशिश कर रहा है । आखिर बेचारा पकड़ा जाता है । वह जोर-जोर से चिल्लाता है····परन्तु उसकी कोई नहीं सुनता है

ग्रौर उसे जीवित दशा में ही ग्रग्नि की भट्टी में सेक दिया जाता है।

बलवान सिंह को पिंजरे में कैद किया जाता है। विशाल काया वाले हाथी को बड़े खड्डे में गिरा दिया जाता है ग्रौर जीवन भर के लिए गुलाम बना दिया जाता है।

कितना वर्णन किया जाय उन तिर्यंचों की पीड़ाग्रों ग्रौर यातनाग्रों का।

स्थावर ग्रौर विकलेन्द्रिय जन्तुग्रों की पीड़ा तो वे ही जानते हैं। शास्त्र में कहा है, निगोद में रहा हुग्रा जीव ग्रपने एक श्वासोच्छ्वास में सत्रह बार जन्म ग्रौर सत्रह बार मरण कर लेता है ग्रौर ग्रठारहवीं बार पुनः जन्म धारण कर लेता है।

इस संसार में मनुष्य-जीवन में भी सुख कहाँ है ?

मनुष्य के सिर पर भी रोग, शोक, दुर्घटना, ग्रपयश तथा मृत्यु की नंगी तलवार लटक ही रही है। कोई गरीबी ग्रौर भुखमरी के कारण दुःखी है।

मनुष्य-जीवन की पीड़ाग्रों के साक्षात् दर्शन करने हों तो एक बार बम्बई के जसलोक ग्रस्पताल ग्रथवा ग्रहमदाबाद के वी०एस० ग्रस्पताल में चक्कर लगा लेना। ग्रोहो ! कैसे-कैसे भयंकर रोगों से घिरे हुए दर्दी हैं ? उनके मुख से कितनी भयंकर चीखें निकल रही हैं। कोई हार्ट का दर्दी है····तो कोई टी.बी. का, कोई डायबीटीज़ का दर्दी है तो कोई केन्सर का। किसी की ग्राँखों में दर्द है तो किसी के कान में। किसी का हाथ कटा है

तो किसी का पैर। कोई आग में जला हुआ दर्दी है तो कोई एक्सीडेंट से घायल।

इस संसार में कोई रोग के कारण दुःखी है तो कोई संतान न होने के कारण। कहीं लूटपाट चल रही है तो कहीं बलात्कार। नाना प्रकार के आतंक से मानव भयभीत बना हुआ है।

अरे ! इस संसार में देवलोक में रहा देव भी सुखी नहीं है। अमाप शक्ति व समृद्धि का स्वामी होते हुए भी वह ईर्ष्या व लोभ से ग्रस्त है, इस कारण उसका बाह्य सब सुख हवा हो जाता है। गुलाब-जामुन के स्वाद के साथ ही एक कंकड़ आ जाय तो जो दशा मानव की होती है, वही हालत ईर्ष्या व लोभ दोष के कारण देवताओं की है।

प्रिय दीपक !

यह सम्पूर्ण ससार नाना प्रकार की वेदनाओं से भरा हुआ है। संसार में सुख का नामोनिशान नहीं है। दुनिया में अर्थ-काम के साधनों में हम सुख मानते हैं, परन्तु यह हमारी भ्रान्ति ही है। वास्तव में, वह सुख नहीं किन्तु सुखाभास ही है।

गर्मी के दिनों में रेगिस्तान में जब गर्म हवा (लू) चलती है, तब वह दूर से बहती हुई नदी की भाँति प्रतीत होता है, परन्तु ज्योंही उसके निकट पहुँचते हैं, त्योंही जल की भ्रान्ति दूर हो जाती है।

बस, इसी प्रकार इन्द्रियजन्य सुख वास्तविक सुख नहीं है किन्तु सुखाभास ही है।

इस संसार में वीतराग-जिनेश्वर परमात्मा हमें सच्चे सुख की राह दिखाते हैं, उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग/धर्म हमें शाश्वत अजरामर पद प्रदान करने में समर्थ है, परन्तु अफसोस ! अज्ञान व मोह के नशे के कारण जीवात्मा को उस सत्य-धर्म के प्रति प्रेम ही पैदा नहीं होता है।

जिनेश्वर का मार्ग आत्मा को जिन/वीतराग बनाता है।

जिनेश्वर का मार्ग आत्मा को पूर्ण बनाता है।

परन्तु मोह की मदिरा का पान करने वाली आत्मा को जिनेश्वर का त्यागमार्ग कहाँ से रुचे ?

उसे तो आनन्द आता है स्त्रियों के भोग-सुखों में। उसे तो आनन्द आता है रेडियो, टी. वी. व केसेट के मधुर संगीत में। उसे तो आनन्द आता है रसनेन्द्रिय को प्रिय मधुर भोजन में।

यही तो मोह की मदिरा का फल है। मोह बुद्धि में विपर्यास पैदा करता है, जिसके फलस्वरूप आत्मा क्षणिक-तुच्छ सुखों में आसक्त बनकर अपना संसार बढ़ा लेती है।

प्रिय दीपक !

कितना भयंकर है यह संसार !

कितने भयंकर हैं संसार के तुच्छ सुख !

इन सुखों (?) के नग्न स्वरूप को तुम अच्छी तरह से जान लो तो फिर तुम्हारे दिल में स्वाभाविक ही उन सुखों के प्रति विरक्ति का भाव जागेगा और वह विरक्ति ही तुम्हें विरति-धर्म के सम्मुख ले जाएगी।

बस, आज पत्र यहीं समाप्त करता हूँ।

तुम्हारे दिल में उठे प्रतिभावों को जानने के बाद विशेष फिर लिखूंगा।

परिवार में सभी को मेरा धर्मलाभ कहना। शेष शुभ।

—रत्नसेनविजय

तड़फती जिन्दगी को ठुकराने वाले जन बहुत मिलेंगे,
घाव पर क्षार छिड़कने वाले नर बहुत मिलेंगे।
सिसकती जिन्दगी को आशा का सम्बल देकर,
मन को सहलाने वाले नर यहाँ कितने मिलेंगे?

9

> इंसान खोके वक्त को पाता नहीं कभी,
> जो दम गुजर गया, वह फिर आता नहीं कभी।

प्रिय 'दीपक',

धर्मलाभ।

कल तुम्हारा पत्र मिला। पढ़कर प्रसन्नता हुई। संसार के वास्तविक स्वरूप को जाने बिना दिल में विरक्ति का जन्म प्रायः असम्भव सा लगता है।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि तुमने 'वैराग्य शतक' ग्रन्थ कण्ठस्थ करने का शुभारम्भ कर दिया है। ये गाथाएँ विशेष कठिन भी नहीं हैं। पूर्व के पुण्योदय से तुम्हारे ज्ञानावरणीय कर्म का तीव्र क्षयोपशम हुआ है।

ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र क्षयोपशम से सोचने-समझने और कण्ठस्थ करने की हमें शक्ति प्राप्त होती है। परन्तु इतना ध्यान रहे कि मात्र ज्ञानावरणीय कर्म का ही क्षयोपशम हो और उसके साथ मोहनीय कर्म का क्षयोपशम न हो अथवा मोहनीय कर्म का तीव्र उदय हो तो उस क्षयोपशम से प्राप्त ज्ञान आत्मा के लिए लाभकारी नहीं बन सकता है। ज्ञान वही लाभकारी

है, जिसके साथ आत्मा में मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होता जाय।

ज्ञानार्जन अथवा ज्ञानाभ्यास अपने पाण्डित्य के प्रदर्शन के लिए नहीं करना है, किन्तु जगत् के यथार्थ स्वरूप का दर्शन कर यथार्थ जीवन जीने के लिए करना है।

तीव्र मोहोदय से युक्त होने के कारण अभव्य की आत्मा ९½ पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर लेती है....फिर भी उस आत्मा का उद्धार नहीं हो पाता है, क्योंकि वह ज्ञान आत्मस्पर्शी नहीं है। ज्ञान जिह्वास्पर्शी नहीं आत्मस्पर्शी/हृदयस्पर्शी होना चाहिये।

'वैराग्य शतक' ग्रन्थ का ज्यों-ज्यों अवगाहन करते जाओगे, त्यों-त्यों तुम्हें आत्मिक आनन्द की अनुभूति होती जाएगी।

'वैराग्य शतक' की दूसरी गाथा है—

अज्जं कल्लं परं परारिं, पुरिसा चिंतंति अत्थसंपत्तिं।
अंजलिगयं व तोयं, गलंतमाउं न पिच्छंति।। २।।

अर्थ—आज मिलेगा....कल मिलेगा....परसों मिलेगा। इस प्रकार अर्थ/धन की प्राप्ति की आशा में रहा मनुष्य अंजलि में रहे हुए जल की भाँति क्षीण होते आयुष्य को नहीं देखता है।

धन की आशा का गुलाम बना व्यक्ति आशा के जाल में रमता रहता है। आज मिलेगा....कल मिलेगा। इस प्रकार आशा की डोर से बँधा हुआ व्यक्ति प्रयत्न/पुरुषार्थ करता ही रहता है, परन्तु उसे कुछ भी हाथ नहीं लगता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—'जो आशा का गुलाम है, वह विश्व का

गुलाम है और जिसने आशा पर विजय प्राप्त कर ली है उसने समूचे विश्व पर विजय पाई है।

योगिराज आनन्दघनजी ने गाया है—

आशा औरन की क्या कीजे ?
ज्ञान सुधारस पीजे।
आशा दासी के जे जाया,
ते जन जग के दासा।
आशा दासी करे जे नायक,
लायक अनुभव प्यासा।।

आशा का गुलाम शेखचिल्ली की भाँति कल्पनाओं के जाल बुनता रहता है।

शेखचिल्ली बाजार में इधर-उधर की मजदूरी करता था। एक बार एक सेठ बाजार में घी लेने के लिए आए। उन्होंने एक दुकान से ५ कि.ग्रा. शुद्ध घी खरीदा। सेठजी की नजर शेखचिल्ली पर पड़ी। उन्होंने उसे कहा—'घी के इस घड़े को उठाकर मेरे घर ले चलोगे तो मैं तुम्हें मजदूरी का एक रुपया दूंगा।'

शेखचिल्ली ने सेठ की बात तुरन्त स्वीकार कर ली और वह घी का घड़ा उठाकर चलने लगा। धीरे-धीरे वह आगे बढ़ रहा था। 'आज मजदूरी में एक रुपया मिलेगा' इस बात का उसे बहुत ही आनन्द था, वह सोचने लगा—'सेठ मुझे एक रुपया देंगे....फिर मैं पीपरमेंट खरीदूंगा....जिसे ले जाकर स्कूल के बाहर बेचूंगा....जिससे मुझे कुछ मुनाफा होगा....फिर मैं बिस्किट

खरीदूंगा...पुनः उन्हें बेचूंगा...फिर मेरे पास पाँच रुपये हो जाएंगे...मैं एक बकरी खरीद लूंगा...बकरी दूध देगी...उसे बाजार में बेचूंगा...फिर धीरे-धीरे एक गाय खरीद लूंगा...गाय दूध देगी...दूध बाजार में बेचूंगा...गाय के बछड़े पैदा होंगे... फिर एक भैंस खरीदूंगा...भैंस दूध देगी...फिर मैं एक छोटी-सी दुकान कर लूंगा...फिर मेरे पास दो पैसे होने से एक सुन्दर कन्या के साथ विवाह करूंगा। फिर मेरा एक छोटा सा परिवार होगा...मैं घर का अधिपति बनूंगा...और उस समय कोई मेरी बात नहीं मानेगा अथवा मेरा कोई अपमान करेगा तो उसे जोर से थप्पड़ लगाऊंगा।" इस प्रकार शेखचिल्ली कल्पना का जाल रच रहा था...और उसी समय थप्पड़ लगाने के लिए शेखचिल्ली ने हाथ ऊँचा उठाया और उसी के साथ सिर पर रखा घी का घड़ा नीचे गिर पड़ा...सारा घी जमीन पर फैल गया।

घी का घड़ा फूटते ही सेठजी एकदम गुस्से वाले हो गए और इसके साथ ही शेखचिल्ली की कल्पना का महल वहीं भस्मीभूत हो गया।

बस, इसी प्रकार शेखचिल्ली की भाँति इस संसार में अर्थ और काम के क्षणिक भोग-सुखों में आसक्त बनी आत्मा उन सुखों को पाने के लिए प्रयत्न करती रहती है, परन्तु आशा के गुलाम को कभी भी तृप्ति का अनुभव नहीं होता है।

भगवान महावीर प्रभु ने **'उत्तराध्ययन सूत्र'** में ठीक ही कहा है—

इच्छाओ आगाससमा अणंतिआ।

इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं। एक इच्छा पूर्ण होते ही दूसरी नयी इच्छा जन्म ले लेती है....और उन इच्छाओं की तृप्ति के लिए मनुष्य सतत प्रयत्नशील बना रहता है....परन्तु जीवन के तो अमूल्य क्षण बीते जा रहे हैं, उस ओर उसकी लेश भी नजर नहीं होती है।

इस संसार में चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति से भी मनुष्य-जन्म की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

यह बात तुमने प्रवचनों में अनेक बार सुनी ही होगी कि देवता अपने करोड़ों वर्ष के आयुष्य में भी जो पुण्यबंध या कर्म-निर्जरा नहीं कर सकते हैं....वह पुण्यबंध और निर्जरा, मनुष्य अपने अल्पकालीन जीवन में आसानी से कर सकता है।

विरति-धर्म का पालन देवताओं के लिए असम्भव है, जो मनुष्य के लिए अति सुगम है। मात्र आठ वर्ष की लघु वय में मनुष्य ही सर्व पापों से विराम पा सकता है और सम्पूर्ण अहिंसक जीवन जी सकता है, जो देवताओं के लिए बिल्कुल शक्य नहीं है।

परन्तु अफसोस! अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-जीवन मिलने पर भी मानव अपने जीवन को विकथा-प्रमाद आदि में व्यर्थ गँवा देता है।

एक कौए को उड़ाने के लिए कोई व्यक्ति चिन्तामणि रत्न फेंक दे तो उसे हम क्या कहेंगे?

एक ईंट की प्राप्ति के लिए कोई महल को गिरा दे तो उसे हम क्या कहेंगे?

सचमुच, इस मनुष्य-जीवन की सफलता तो आत्मसाधना के लिए सुयोग्य पुरुषार्थ करने में ही है।

आत्मसाधना के कल्याणकारी पथ की उपेक्षा करके जो क्षणिक सांसारिक सुखों में आसक्त बनता है, वह व्यक्ति स्वर्ण के थाल में धूल डाल रहा है, अमृत से पाद-प्रक्षालन कर रहा है और कौए को उड़ाने के लिए चिन्तामणि रत्न फेंक रहा है। वह व्यक्ति अपने भवन के कल्पवृक्ष को उखाड़ कर वहाँ धतूरे के बीज बो रहा है। चिन्तामणि के बदले काँच का टुकड़ा खरीद रहा है और महाकाय हाथी को बेच कर गधा खरीद रहा है।

दुर्लभता से प्राप्त मनुष्य-जीवन को जो भोग-सुखों में व्यर्थ गँवा देता है, वह व्यक्ति समुद्र तैरने के लिए नाव को छोड़कर पत्थर ग्रहण करने वाले की तरह महामूर्ख ही है।

अंजलि में रहा जल कब तक रह सकता है? वह प्रतिसमय झरता ही रहता है। इसी प्रकार आयुष्य रूपी जल भी प्रतिसमय कम होता जा रहा है।

परन्तु अफसोस! मोहान्ध व्यक्ति इस यथार्थ सत्य के दर्शन नहीं कर पाता है और वह अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को व्यर्थ गँवा देता है। बचपन खाने-पीने में, यौवन भोग-सुख में और वृद्धावस्था चिन्ता व शोक में गँवाने वाला व्यक्ति आत्मसाधना कब कर सकता है?

आत्मजागृति के लिए योगिराज आनन्दघनजी का यह प्रेरक पद याद करने योग्य है—

अवसर बेर-बेर नहीं आवे ।
ज्युं जाने त्युं कर ले भलाई, जनम-जनम सुख पावे ।
अवसर० ।
तन धन यौवन सब ही झूठा, प्राण पलक में जावे ।
अवसर० ।
तन छूटे धन कौन काम को, कांहेकुं कृपण कहावे ।
अवसर० ।
जाके दिल में सांच बसत है, ताको झूठ न भावे ।
अवसर० ।
आनन्दघन कहे चलत पंथ में, समर समर गुण गावे ।
अवसर० ।

मुमुक्षु दीपक,

खोया हुआ धन पुनः प्राप्त हो सकता है, खोया हुआ स्वास्थ्य पुनः प्राप्त हो सकता है, परन्तु खोया हुआ समय पुनः प्राप्त नहीं हो सकता है । If you have lost your money, you can get it back, If you have lost your health you can get it back. But if you have lost your time you can't get it back at any cost. ज्यादा क्या लिखूं ? तुम स्वयं समझदार हो । याद करो प्रभु महावीर के उस वाक्य को–**'समयं गोयम ! मा पमायए'** हे गौतम ! समय मात्र का भी तू प्रमाद मत करना ।

सचमुच, भगवान महावीर के इस उपदेश को जीवन में आत्मसात् करने की आवश्यकता है ।

बाह्य दुनिया अब बहुत देख ली है, अब अन्तरंग दुनिया के दर्शन करो आत्मा के स्वरूप-चिंतन में डूबो, फिर देखो कैसे आनन्द मिलता है ।

परिवार में सभी को धर्मलाभ । शेष शुभ । —**रत्नसेनविजय**

10

> रत्न तो लाखों मिले मगर ज्ञानरत्न न मिला,
> धन तो हर वक्त मिला मगर चैन किसी क्षण न मिला।
> खोजते-खोजते ढल गई धूप जीवन की,
> दूसरी बार लौट के, मगर बचपन न मिला ।।

प्रिय 'दीपक' !

धर्मलाभ ।

परमात्मा की असीम कृपा से आनन्द है। दो दिन पूर्व ही तुम्हारा पत्र मिला था। हमारी विहार-यात्रा, संयम-यात्रा सानन्द चल रही है।

तुमने लिखा—'धर्म-कार्य में इतनी जल्दी क्या है ? धर्मकार्य तो वृद्धावस्था में भी हो सकता है।'

प्रिय मुमुक्षु !

यही तेरी सबसे बड़ी भूल है। काल/मृत्यु का कोई भरोसा नहीं है, मृत्यु तो कभी भी आ सकती है। मृत्यु के लिए किसी भी अवस्था में प्रतिबन्ध नहीं है, वह गर्भावस्था में भी आ सकती है....जन्म के साथ ही आ सकती है....बचपन में आ सकती है.... जवानी में आ सकती है....और वृद्धावस्था में भी आ सकती है।

किसी भी 'वार' के दिन मृत्यु आ सकती है....वह सोमवार को भी आ सकती है और मंगलवार को भी। किसी भी तारीख व किसी भी तिथि के दिन वह आ सकती है। वह खाते-खाते भी आ सकती है और सोते-सोते भी। वह दिन में भी आ सकती है और रात्रि में भी। उसके आगमन में कोई दिन, कोई वार, कोई तिथि, कोई समय, कोई घड़ी और कोई पर्व प्रतिबन्धक नहीं है।

• याद आ जाती है महाभारत की एक घटना। युधिष्ठिर प्रतिदिन मध्याह्न समय तक दान करता था। एक बार एक याचक मध्याह्न समय के बाद आया और युधिष्ठिर से कुछ याचना करने लगा। युधिष्ठिर ने कहा "आज समय हो चुका है, अतः कल आना।"

युधिष्ठिर के इस जवाब को सुनकर भीम ने 'विजय-भंभा' बजवाई। युधिष्ठिर ने भंभा की आवाज सुनी। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। भीम के पास आकर युधिष्ठिर ने पूछा, 'अरे भीम! आज हमने किसके ऊपर विजय प्राप्त की है? अभी विजय की भंभा कैसे बजाई जा रही है?'

भीम ने कहा—'भैया! आपने 'काल' पर विजय प्राप्त कर ली है, इस खुशी में मैंने 'विजय-भंभा' बजवाई है।

भीम के इस जवाब को सुनकर आश्चर्यभरी दृष्टि से युधिष्ठिर ने कहा—'अरे भीम! तुझे किसने कहा कि मैंने काल पर विजय प्राप्त कर ली है? काल पर विजय पाने वाला आज तक कोई पैदा हुआ है?'

भीम ने कहा—'आपने याचक को जो जवाब दिया है, उसी

के आधार पर मैंने जाना है कि आपने काल पर विजय प्राप्त की है, अन्यथा आप भिखारी को 'कल' आने का कैसे कहते ?'

भीम के इस उत्तर को सुनते ही युधिष्ठिर को अपनी भूल समझ में आ गई। तुरन्त ही उन्होंने याचक को बुलाकर दान किया।

'वैराग्य शतक' की तीसरी गाथा बराबर याद कर ली होती....उसके अर्थ का थोड़ा-बहुत चिन्तन किया होता तो शायद ही तुम इस प्रकार का प्रश्न करते ?

आज इस पत्र में तुम्हें उस गाथा की ही चिन्तन-यात्रा कराऊंगा।

जं कल्ले कायव्वं, तं अज्जं चिय करेह तुरमाणा।
बहुविग्घो हु मुहुत्तो, मा अवरण्हं पडिक्खेह ।। ३ ।।

अर्थ—जो धर्मकार्य कल करने योग्य है, उसे आज ही शीघ्र कर लो। मुहूर्त्त (काल) अनेक विघ्नों से भरा हुआ है, अतः अपराह्न पर मत डालो।

ग्रन्थकार महर्षि हमें सावधान करते हैं कि शुभ कार्य में लेश भी देरी नहीं करनी चाहिये। संसारी जीवों पर 'काल' का 'हंटर' सतत घूम रहा है, पता नहीं, कब इसके शिकार हो जायें, कुछ भी कह नहीं सकते हैं।

भगवान गौतम स्वामी से प्रतिबुद्ध बना बाल अतिमुक्तक घर आकर अपनी माँ को कहता है—'माँ! माँ! मुझे दीक्षा की अनुमति दो।'

माँ ने कहा—"बेटा ! इतनी जल्दी क्या है ?" अतिमुक्तक ने कहा—"माँ ! मैं उसे जानता हूँ....फिर भी उसे नहीं जानता हूँ, अतः दीक्षा के लिए जल्दी कर रहा हूँ ।"

'बेटा ! तू क्या कहना चाहता है ? मेरी समझ में नहीं आ रहा है ।' माँ ने कहा ।

"माँ ! मृत्यु आने वाली है, उसे मैं अच्छी तरह से जानता हूँ, परन्तु वह कब आने वाली है ? उसका मुझे कुछ भी पता नहीं है, अतः जीवन की सफलता के लिए शीघ्र ही संयम-जीवन स्वीकार करना चाहता हूँ ।"

अतिमुक्तक के इस उत्तर को सुनकर माँ प्रसन्न हो गई और उसने अपने लाड़ले सपूत को त्यागमार्ग पर जाने के लिए सहर्ष अनुमति दे दी ।

• पूर्व भव की साधना के फलस्वरूप अत्यन्त छोटी वय में दीक्षा के लिए उत्सुक बने अपने पुत्र को माँ ने कहा—"तू तो अभी छोटा है....बड़ा होकर दीक्षा लेना ।"

पुत्र ने कहा, 'माँ ! चूल्हे में डाली गई छोटी-२ लकड़ियाँ पहले जलकर राख हो जाती हैं या बड़ी लकड़ियाँ ?'

माँ ने कहा—'छोटी लकड़ियाँ पहले जलकर राख बनती हैं ।'

बेटे ने कहा—"माँ ! काल की अग्नि में, मैं भी तो उन छोटी लकड़ियों की तरह ही हूँ, अतः वह 'काल' मुझे भस्मसात् करे....उसके पहले ही मैं क्यों न आत्मसाधना कर लूं ?"

पुत्र के इस वाणी-चातुर्य से प्रभावित बनी माँ ने अपने पुत्र को संयम-मार्ग पर जाने के लिए सहर्ष अनुमति दे दी ।

'समरादित्य-चरित्र' में एक जगह लिखा है—'इस संसार में संसारी जीव जीता है, वह मृत्यु (यमराज) का ही प्रमाद है ।'

मृत्यु की नंगी तलवार प्रत्येक जीव पर सतत लटक रही है । अतः शुभ कार्य में प्रमाद नहीं करना चाहिये ।

नीतिशास्त्र में भी कहा है—**'शुभेषु शीघ्रम्'** शुभ कार्य शीघ्र करने चाहिये, उसमें देरी करना हितकर नहीं है ।

'मन में शुभ विचार पैदा होना' पुण्योदय का लक्षण है । अनादि के कुसंस्कारों के कारण शुभ विचार अधिक समय टिक नहीं पाते हैं, अतः शुभ विचार को क्रियान्वित करने में देरी नहीं करनी चाहिये ।

श्रेयस्कर—कल्याणकारी कार्यों में ही विघ्नों की सम्भावना होती है, अतः अवसर हाथ लगते ही शुभ कार्य कर लेने चाहिये ।

अनादिकाल से कुवासनाओं की गुलामी होने के कारण खराब/अशुभ विचार आने की सम्भावना रहती है । उन अशुभ विचारों से बचने के लिए, अशुभ विचार आने के बाद कुछ काल-क्षेप कर देना चाहिये । अशुभ विचार को शीघ्र क्रियान्वित न होने दें ।

शुभ विचार आने पर सोचें, —"काल करे सो आज कर,

आज करे सो अब ।" और अशुभ विचार आए तब सोचें—'आज करे सो काल कर, काल करे सो परसों ।' भाव यह है कि अशुभ विचार को कालक्षेप आदि कर किसी भी तरह से निष्फल बनाने का प्रयत्न करना चाहिये ।

ग्रन्थकार महर्षि कहते हैं कि जिस शुभ कार्य को तू कल के भरोसे छोड़ रहा है, उसे आज ही कर ले, क्योंकि 'काल' विघ्नों से भरा हुआ है ।'

'समराइच्चकहा' की अन्तर्कथा में आई हुई **'यशोधर'** की कहानी सुनी ही होगी ?

चारित्रधर्म की स्वीकृति में हुए थोड़े से प्रमाद के कारण उसे कितने भवों तक संसार में भटकना पड़ा ?

मुमुक्षु 'दीपक' !

शास्त्र में तो कहा है कि आठ वर्ष की लघु वय में ही संयम स्वीकार कर लेना चाहिये ।

इस बात को तू बराबर याद रख ले 'मानव-जीवन संयम-साधना के लिए ही हैं'....संयम की साधना एक मात्र मानव-जीवन में ही शक्य है, अतः प्रमाद का त्याग कर ।

आचारांग-सूत्र में श्रमण भगवान महावीर परमात्मा ने कहा है—**'खणं जाणइ पंडीए ।'**

जो अवसर को जानता है (और अवसर को जानकर उसे साध लेता है) वही पंडित है ।

रसना की आसक्ति, भोग सुखों की आसक्ति आत्मा का पतन करा देती है ।

आषाढ़ाभूति, कंडरीक मुनि, सुव्रत मुनि के पतन में कौन कारण बना था ?

रसना की आसक्ति ही न ?

नंदिषेण, अरणिक मुनि, संभूति मुनि के पतन में कौन कारण बना था ?

भोग-सुखों की आसक्ति ही न ?

अतः सावधान बनो !

मानव-जीवन के अमूल्य क्षण को व्यर्थ न गँवाओ ।

ज्यादा क्या लिखूँ !

तुम ज्यों-ज्यों **'वैराग्य शतक'** ग्रंथ का अवगाहन करते जावोगे, त्यों-त्यों तुम्हारी अन्तरात्मा में वैराग्य की ज्योति प्रज्वलित हुए बिना नहीं रहेगी, ऐसा मुझे विश्वास है ।

आराधना में उद्यमवन्त रहना । परिवार में सभी को धर्मलाभ कहना ।

शेष शुभम् ।

—रत्नसेनविजय

11

> The mind in its own place and in itself can make a heaven of hell and a hell of heaven.

प्रिय 'दीपक' !

धर्मलाभ ।

सौराष्ट्र की पावन धरा पर विहार-यात्रा सानन्द चल रही है ।

उपाश्रय में प्रवेश करते ही तुम्हारा पत्र मिला ।

तुम्हारे विचारों को जानने की इच्छा हुई····पत्र खोला, पढ़ा और प्रसन्नता का अनुभव हुआ ।

'वैराग्य शतक' ग्रन्थ के अवगाहन में तुम्हें बड़ा आनन्द आ रहा है, यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई । सचमुच ही यह ग्रन्थ 'गागर में सागर' तुल्य है ।

निर्मल संयम-जीवन की साधना के बाद ग्रन्थकार महर्षि के अन्तःकरण में से निकले ये शब्द सीधे ही अपने हृदय पर चोट करते हैं ।

हमारी अन्तश्चेतना के ऊर्ध्वीकरण के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है।

आज मैं इस ग्रन्थ की चौथी गाथा को यथामति समझाने का प्रयास करूंगा।

ग्रन्थकार महर्षि लिखते हैं—

ही संसार-सहावं, चरियं नेहाणुरागरत्ता वि।
जे पुव्वण्हे दिट्ठा, ते अवरह्णे न दीसंति॥ ४॥

अर्थ—अहो! संसार का स्वभाव कैसा है! जो पूर्वाह्न में स्नेह के अनुराग से रक्त दिखाई देते हैं....वे अपराह्न में दिखाई ही नहीं देते हैं।

मुमुक्षु 'दीपक'!

याद है न तुझे?

एक बार मैंने तुझे प्रदेशी राजा की कहानी सुनाई थी। प्रदेशी राजा और सूर्यकान्ता महारानी के बीच कितना अपूर्व प्रेम था! वे दोनों एक-दूसरे के वियोग को सहन नहीं कर पाते थे। परन्तु वह प्रेम कब तक टिका रहा? उसी सूर्यकान्ता महारानी ने अपने पति प्रदेशी राजा को जहर का कटोरा पिला दिया और अपने नाखूनों से उसका गला दबोच दिया था।

परपुरुष के संग में आसक्त बनी चुलनी माता ने अपने पुत्र ब्रह्मदत्त को जीवित जला देने के लिए कैसा भयंकर षड़यंत्र रचा था?

'प्रशमरति सूत्र' में ग्रन्थकार महर्षि संसार के स्नेह/प्रेम को धिक्कारते हैं। संसार में निर्दोष प्रेम कहाँ मिलता है? वह तो प्रेम के लिबास में कोरा स्वार्थ ही होता है।

सुनी हुई घटना है।

बम्बई में दो भाई रहते थे। उन दोनों में अपूर्व प्रेम था। एक दिन छोटे भाई ने बड़े भाई को अपने घर आने के लिए आमंत्रण दिया। दोनों भाई वातानुकूलित कक्ष में एक ही टेबल पर बैठकर एक ही थाली में मिजबानी उड़ा रहे थे। बहुत ही आनन्द से दोनों भाइयों ने भोजन किया....और भोजन की समाप्ति के बाद पता नहीं क्या घटना बनी? कहाँ से आग की चिनगारी आ गिरी?....और वे भाई परस्पर झगड़ पड़े....एक दूसरे को मारने के लिए तैयार हो गए....,दोपहर के समय वह मामला अदालत में गया....और आखिर वे दोनों भाई जीवन भर के लिए एक दूसरे के दुश्मन हो गए।

ऐसी तो अनेक घटनाएँ हमारे दैनिक जीवन-व्यवहार में देखने, पढ़ने व सुनने को मिलती हैं।

वृक्ष जब हरा-भरा होता है, तब अनेक पक्षी आकर उस वृक्ष पर घोंसला बनाते हैं, कोयल के कूजन से वह वृक्ष गूंज उठता है, पथिक आकर उस वृक्ष के नीचे विश्राम करते हैं, माली आकर उस वृक्ष का सिंचन करता है, परन्तु जब वही वृक्ष जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, फल-फूल से रहित हो जाता है, तब उस वृक्ष के पास कौन आता है? कोई नहीं।

गाय जब तक दूध देती है, तब तक उसे हरा घास खिलाते

हैं····उसकी पूरी सावधानी रखते हैं····परन्तु ज्योंही वह गाय वृद्ध हो जाती है, तब कोई उसकी संभाल नहीं रखता है।

सरोवर में जब तक पानी भरा होता है, तब तक हजारों मनुष्य व पशु-पंखी वहाँ आते हैं, परन्तु ज्योंही वह सरोवर सूख जाता है, त्योंही सभी व्यक्ति उससे दूर चले जाते हैं।

संसार में प्रेम (?) करते हैं धन से।

संसार में प्रेम (?) करते हैं पद से।

संसार में प्रेम (?) करते हैं शक्ति से।

अर्थात्—यदि तुम्हारे पास धन है, पद है अथवा शक्ति है तो दुनिया तुमसे प्रेम करेगी, तुम्हारे प्रति आदर भाव व्यक्त करेगी, परन्तु यदि तुम्हारे पास इनमें से कुछ भी नहीं है तो तुम्हारे ही स्वजन-मित्र तुमसे दूर रहने की कोशिश करेंगे।

इसीलिए तो प्रभु महावीर ने कहा है—संसार स्वार्थ से भरा हुआ है····संसार के सम्बन्ध स्वार्थ से भरे हुए हैं।

सांसारिक सम्बन्धों की भयंकरता को लक्ष्य कर ही तो आनन्दघनजी योगिराज ने गाया है—

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, और न चाहु रे कंत।
रीझ्यो साहिब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनंत॥

वे कहते हैं—युगादिदेव आदिनाथ परमात्मा ही मेरे प्रियतम/स्वामी हों···मैं उन्हीं से प्रेम करना चाहता हूँ····मैं उन्हीं के चरणों में आत्म-समर्पण करना चाहता हूँ····वे ही मेरे नाथ हैं····वे ही

मेरे सर्वस्व हैं....अब मुझे किसी की चाह नहीं है....अब मेरी अन्य कोई राह नहीं है। परमात्मा के साथ की प्रीति सादि-अनन्त है, जबकि दुनिया में जो प्रीति होती है....वह सादि-सान्त होती है।

लग्न आदि के द्वारा संसार में जो संबंध जोड़े जाते हैं, वे सम्बन्ध अधिकतम जीवन-पर्यन्त रह सकते हैं।

वर्तमान युग में तो इन सम्बन्धों के बीच प्रतिक्षण खतरा है। किसी भी समय किसी के जीवन में खतरे की घंटी बज सकती है।

आज के 'डाइवोर्स' के युग में तो लग्न-जीवन के संबंध भी कहाँ स्थिर हैं? अमेरिका जैसे देश में तो एक ही स्त्री अपने जीवन में डाइवोर्स द्वारा अठारह-अठारह पति कर लेती है।

संसार में जड़ पदार्थों का सौंदर्य भी कहाँ स्थिर है? जगत् के समस्त पदार्थ/समस्त भाव परिवर्तनशील हैं। पुद्गल मात्र का यह स्वभाव है....उसकी पर्यायें/अवस्थाएँ सतत बदलती रहती हैं।

जिस वस्तु को देखकर सुबह मन आनन्दित होता है....शाम को उसी वस्तु को देखकर मन उद्विग्न बन सकता है।

पौद्गलिक पदार्थों के भाव बदलते रहते हैं, फिर भी आश्चर्य है कि अज्ञानता व मोह के कारण व्यक्ति, वस्तु की किसी एक पर्याय में मोहित बन जाता है और उसे पाने के लिए अत्यन्त लालायित हो उठता है।

जिस प्रकार 'पतंगा' अग्नि के रूप पर मोहित होकर उसका

स्पर्श करने जाता है, परन्तु ज्योंही वह अग्नि का स्पर्श करता है, उसे अपने प्राण ही खोने पड़ते हैं।

बस, इसी प्रकार स्त्री के क्षणिक रूप पर मोहित व्यक्ति, अपनी आत्मा के भाव-प्राणों का ही नाश करता है।

आत्मा का सौन्दर्य शाश्वत है।

पुद्‌गल का सौन्दर्य क्षणिक है।

- इन्द्र महाराजा ने सनत्‌कुमार चक्रवर्ती के अद्‌भुत रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा की थी। एक मनुष्य के रूप की इस प्रकार की प्रशंसा सुनकर दो देव ब्राह्मण का रूप धरकर हस्तिनापुर आए।

उस समय सनत्‌कुमार चक्रवर्ती स्नानगृह में स्नान कर रहे थे।

ब्राह्मणवेष में रहे देवों ने चक्रवर्ती का रूप-सौन्दर्य निहारा और वे दाँतों तले अंगुली दबाने लगे। परन्तु उसी समय चक्रवर्ती ने कहा, 'अरे ब्राह्मणो! रूप-दर्शन करना हो तो राजसभा में आना, अभी तो मैं वस्त्र व अलंकारों से रहित हूँ।'

चक्रवर्ती का यह कथन सुनकर दोनों ब्राह्मण चले गए।

थोड़ी ही देर बाद कीमती वस्त्र और स्वर्ण-रत्न के अलंकारों से सुसज्जित होकर सनत्‌कुमार चक्रवर्ती अपनी राजसभा में पधारे। हजारों नर-नारियों ने चक्रवर्ती का जयघोष किया, चक्रवर्ती ने आसन ग्रहण किया और उसी समय ब्राह्मणवेषधारी दोनों देव राजसभा में उपस्थित हुए।

परन्तु यह क्या? चक्रवर्ती के दर्शन के साथ ही उन्होंने

अपना मुँह फेर लिया। उनकी इस प्रवृत्ति से चक्रवर्ती को भारी आश्चर्य हुआ। वे बोले—'अरे ब्राह्मणो! मेरे रूपदर्शन के लिए आए हो न? तो मेरे सामने देखो।'

चक्रवर्ती की यह बात सुनकर ब्राह्मणवेषधारी देवों ने कहा—'अब क्या देखें? आपका रूप तो नष्ट हो चुका है....आपके शरीर में रोग पैदा हो गया है। आपको विश्वास न हो तो थूक कर देखें।'

तुरन्त ही चक्रवर्ती ने पानदानी में थूका और उस थूक में उन्होंने छोटे-छोटे कीड़ों के दर्शन किये।

बस, तुरन्त ही चक्रवर्ती के रूप-अभिमान पर चोट लगी। सोचने लगे, 'अहो! कैसा यह क्षणभंगुर देह है? अहो! इतने अल्प समय में इस देह की ऐसी विक्रिया?'....और उन्होंने आत्म-कल्याण के पथ पर प्रयाण कर दिया। भयंकर रोग परीषह को सहन कर सदा के लिए बंधन-मुक्त हो गए।

मुमुक्षु 'दीपक'!

तुम ही बताओ...इस संसार में ऐसा कौनसा पदार्थ हैं, जिस पर राग किया जाय?

संसार के पदार्थों के इस विकृत-स्वभाव को देखकर किस बुद्धिमान् पुरुष का मन संसार के तुच्छ सुखों में आसक्त होगा?

बस, आज इतना ही पर्याप्त है।

'वैराग्य शतक' का चिन्तन सतत चालू रखना।

आराधना में उद्यमवंत रहो।

परिवार में सभी को धर्मलाभ।

शेष शुभम्। —रत्नसेनविजय

12

> सूर्यमुखी दिन में खिलता है, पर रात में नहीं।
> चन्द्रमुखी रात में खिलता है, प्रभात में नहीं।
> अन्तर्मुखी हर क्षरण खिलता ही रहता है।
> क्योंकि उसकी मुस्कान किसी के हाथ में नहीं॥

प्रिय मुमुक्षु 'दीपक' !

धर्मलाभ ।

परमात्मा की असीम कृपा से आनन्द है। संयम-स्वाध्याय साधना सानन्द चल रही है। कल तुम्हारा पत्र मिला। 'संसार की वृत्ति-प्रवृत्तियों के प्रति तुम्हें अरुचि पैदा होती जा रही है।' यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई।

दिल में प्रज्ज्वलित 'वैराग्य' की ज्योति को अधिक प्रदीप्त करने के लिए वैराग्य रस से परिपूर्ण ग्रन्थों का वाचन अनिवार्य है।

'वैराग्यशतक' की एक-एक गाथा में संसार के प्रति विरक्ति जगाने की ताकत है। शर्त है उन गाथाओं का पुन:पुन: स्वाध्याय और अर्थचिन्तन होना चाहिये।

'षोडशक' ग्रन्थ में सूरिपुरन्दर आचार्य श्रीमद् हरिभद्र

सरीश्वरजी म. ने ज्ञान के तीन भेद बतलाए हैं--(१) श्रुतज्ञान (२) चिन्ताज्ञान और (३) भावनाज्ञान।

किसी भी सूत्र/ग्रन्थ को याद करना कण्ठस्थ करना, श्रुतज्ञान कहलाता है।

'याद किए गए सूत्र के अर्थ का चिन्तन-मनन करना, **'चिन्ताज्ञान'** कहलाता है और उस सूत्र के पदार्थों को जीवन में आत्मसात् करना, **'भावनाज्ञान'** कहलाता है।

श्रुतज्ञान जलस्वरूप है, जो अल्प समय के लिए तृषा को शान्त कर तृप्ति प्रदान करता है।

चिन्ताज्ञान दूध स्वरूप है, जो कुछ अधिक समय के लिए तृषा को शान्त करता है और तृप्ति प्रदान करता है।

भावनाज्ञान अमृत स्वरूप है, जो दीर्घकाल तक तृषा को शान्त करता है और आत्मा को तृप्त करता है।

एक ही ज्ञान अवस्था भेद से श्रुत, चिन्ता और भावना की पर्याय को प्राप्त करता है।

महान् पुण्योदय से हमें सर्वश्रेष्ठ मनुष्य-जन्म और वीतराग-शासन की प्राप्ति हुई है, अतः इस जीवन की सफलता के लिए वीतराग वचन रूप 'श्रुत' को भावनाज्ञान में परिणत करने की आवश्यकता है।

गत पत्रों में **'वैराग्यशतक'** की चार गाथाओं पर विवेचन किया था। मुझे प्रसन्नता है कि वह तुम्हें रुचिकर लगा।

इस पत्र में आज उस महान् ग्रन्थ को ५वीं गाथा को स्पष्ट करने का प्रयत्न करूंगा।

ग्रन्थकार महर्षि फरमाते हैं—

मा सुयह जग्गियव्वे,
पलाइयव्वंमि कीस वीसमह ?
तिण्णि जणा अणुलग्गा,
रोगो अ जरा अ मच्चू अ ॥ ५ ॥

अर्थ—जाग्रत रहने योग्य धर्म-कर्म के विषय में सोओ मत। नष्ट होने वाले इस संसार में किसका विश्वास करोगे ? रोग, जरा और मृत्यु ये तीन तो तुम्हारे पीछे ही लगे हुए हैं।

प्रिय मुमुक्षु !

यह जीवन सोने के लिए नहीं है⋯प्रमाद के लिए नहीं है।

अव्यवहार राशि में अनन्तकाल सोने में/प्रमाद में गया है। व्यवहार राशि में भी बादर एकेन्द्रिय तथा बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउइन्द्रिय आदि में असंख्य वर्ष प्रमाद में गए हैं। पंचेन्द्रिय अवस्था में भी अधिकांश काल मोह की नींद में ही गया है।

देवलोक में सुख की बहुलता होने से आत्मा प्रायः रागाधीन बनती है⋯नरक में दुःख की बहुलता होने से आत्मा प्रायः द्वेषाधीन बनती है; तिर्यंच में भूख की बहुलता, अज्ञानता और पराधीनता के कारण सन्मार्ग-बोध की सम्भावना कम ही रहती है। जो आत्मा मोहाधीन है, वह जागते हुए भी सोई हुई है।

जो आत्मा मोह-विजेता है....अथवा मोहजय के लिए प्रयत्नशील है....वह आत्मा सोते हुए भी जाग्रत ही है।

मोह से जाग्रत बनने के लिए हमें इस जीवन में बहुत सी अनुकूल सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं।

परमात्मा की वाणी मोह/मिथ्यात्व/कुवादी रूपी कुरंग (मृग) के संत्रासन के लिए सिंहनाद समान है। ठीक ही कहा है—

'कुवादि-कुरङ्गसन्त्रासनसिंहनादाः' ।

परमात्मा की वाणी मोह के लिए जोरदार तमाचा है।

'आचारांग-सूत्र' में प्रभु महावीर ने भव्यात्माओं को सम्बोधित करते हुए ठीक ही कहा है—

'उट्ठिए, नो पमायए'

उठो, जागो, प्रमाद का त्याग करो।

अन्तरात्मा की सुषुप्त चेतना को जागृत करो।

इस संसार में कोई पदार्थ शरण्य नहीं है। कोई भी विश्वास करने योग्य नहीं है; क्योंकि जगत् के सभी पदार्थ परिवर्तनशील हैं....प्रतिक्षण नष्ट होते जा रहे हैं।

जो स्वयं मर रहा हो, वह दूसरे को कैसे बचाएगा ?

जो स्वयं स्थिर नहीं है, वह दूसरे की क्या सुरक्षा करेगा ?

जो स्वयं नाशवन्त है ...वह दूसरे को क्या आनन्द देगा ?

संसार के सभी पदार्थ नाशवन्त हैं, क्षणिक हैं, परिवर्तनशील हैं।

धन विश्वास करने योग्य नहीं है।

पुत्र, परिवार विश्वास करने योग्य नहीं हैं।

शरीर भी विश्वास करने योग्य नहीं है।

'तरंगतरलालक्ष्मी'—लक्ष्मी तो जल-तरंग की भाँति चपल-चंचल व चलित स्वभाव वाली है।

आज तुम्हारा पुण्योदय है....तुम्हारे पास सम्पत्ति है, कल पापोदय होगा, वही सम्पत्ति दूर-सुदूर चली जाएगी, तुम हाथ मलते ही रह जाओगे।

पुत्र-परिवार-स्वजन भी तभी तक अनुकूल रहते हैं, जब तक पुण्य का उदय होता है, पाप का उदय आने पर वे ही स्वजन अपने से विपरीत चलने लग जायेंगे।

- मगधसम्राट् श्रेणिक ने जिस पुत्र कोणिक को बड़े लाड़-प्यार से बड़ा किया था, वही कोणिक, बड़ा होने पर श्रेणिक को जेल के सींकचों में बंद करवा देता है....और प्रतिदिन कोड़ों की मार लगवाता है।

- जिस सीता के लिए रामचन्द्रजी ने रावण के साथ भयंकर युद्ध खेला था....उसी सीता का जब पापोदय आता है, तब वे ही रामचन्द्रजी उसे भयंकर दण्डकारण्य वन में भिजवा देते हैं।

- जिस ऋषिदत्ता के नगर-प्रवेश पर उसके श्वसुर ने उसका

भव्य स्वागत किया था …उसी ऋषिदत्ता का पापोदय आने पर, उसके ही श्वसुर ने उसे मौत के घाट उतारने की आज्ञा कर दी थी ।

• सनत्कुमार चक्रवर्ती के रूप-दर्शन के लिए दूर-दूर से लोग आते थे। सनत्कुमार चक्री अत्यन्त रूपवान् थे, बलिष्ठ थे….परन्तु ज्योंही पाप का उदय हुआ, त्योंही उनकी काया में भयंकर रोग फैल गए ।

ठीक ही कहा है—

तन-धन-यौवन सब ही झूठा , प्राण पलक में जावे ।

अतः इस संसार में कोई भी विश्वास करने योग्य नहीं है ।

ग्रन्थकार महर्षि फरमाते हैं—'रोग, जरा और मृत्यु रूपी डाकू अपने पीछे लगे हुए हैं, वे किसी को नहीं छोड़ते हैं ।'

• जिस रूपसुन्दरी को अपने रूप का गर्व था, उसकी काया केन्सर से ग्रस्त हो गई….उसका सारा अभिमान गल गया ।

• जो व्यक्ति युवावस्था में अनेक पर हुकम चलाता था….आज वृद्धावस्था से घिरे होने के कारण, उसकी ओर कोई देखने के लिए तैयार नहीं है ।

• कल तो उसके लग्न-प्रसंग का वरघोड़ा निकला था….सभी आनन्द-कल्लोल कर रहे थे, आज उसी की शव-यात्रा निकल रही है, चारों ओर रुदन-क्रन्दन सुनाई दे रहा है ।

संसार का 'नग्न-चित्र' प्रस्तुत करने वाली, कवि की ये पंक्तियाँ याद आ जाती हैं—

इधर एक दूल्हा घोड़े चढ़ा है,
उधर एक जनाजा उठा जा रहा है।
इधर वाह-वाह है, उधर ठंडी आहें,
कोई रो रहा है, कोई गा रहा है।
शायद इसी का नाम है दुनिया,
कोई आ रहा है, कोई जा रहा है।
इसी का नाम है दुनिया ।।

दुनिया के सभी पदार्थ नाशवन्त हैं अतः वे पदार्थ अपनी आत्मा को शरण देने में समर्थ नहीं हैं। कोई भी पदार्थ या व्यक्ति हमें मृत्यु से बचा नहीं सकता।

सम्राट् हो··चाहे चक्रवर्ती,····देव हो····चाहे देवेन्द्र, सभी को मौत से भेंटना ही पड़ता है।

किस समय कौन-सा रोग उदय में आ जाएगा, कुछ कह नहीं सकते।

जरा का अर्थ मात्र वृद्धावस्था नहीं है, जरा का एक अर्थ वयोहानि भी है····अर्थात् प्रतिक्षण हमारे आयुष्य में हानि होती ही जा रही है। जिस प्रकार दीपक ज्यों-ज्यों जलता है, त्यों-त्यों उसका तेल कम होता जाता है, उसी प्रकार ज्यों-ज्यों समय बीतता है, त्यों-त्यों मृत्यु निकट आती जाती है। इससे सिद्ध होता है कि हम प्रतिक्षण वृद्ध होते जा रहे हैं।

रोग, जरा और मृत्यु के बन्धन से मुक्त करने में एक मात्र 'जिनधर्म' ही समर्थ है।

वीतराग-जिनधर्म ही आत्मा को कर्म के बन्धन से मुक्त कर सकता है। दुर्लभता से प्राप्त इस जीवन में जिनधर्म की आराधना-साधना के लिए प्रचण्ड पुरुषार्थ करना चाहिये····इसी में जीवन की सफलता/सार्थकता है।

प्रिय 'दीपक'!

जिनधर्म के तत्त्वों को जानने के लिए तुम्हारे मन में जिज्ञासा है, यह जानकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता होती है।

सामायिक की नियमित साधना चालू ही होगी? 'सामायिक' में समत्वयोग की साधना निहित है। सामायिक में जिनेश्वर भगवन्त-निर्दिष्ट तत्त्वों का पठन-पाठन व स्वाध्याय भी कर सकते हैं।

जिनेश्वर-निर्दिष्ट तत्त्वों के रहस्यों को समझने का सामर्थ्य प्राप्त करो और शीघ्र मुक्तिगामी बनो, इसी शुभाभिलाषा के साथ।

—रत्नसेनविजय

मृत्यु निश्चित भी है और अनिश्चित भी। 'मृत्यु होगी' यह निश्चित है। किन्तु कब होगी? यह अनिश्चित है।

13

> अमावस्या किस माह में नहीं आती ?
> थकावट किस राह में नहीं आती ?
> इस संसार में बताए तो कोई,
> समस्या किस राह में नहीं आती ?

प्रिय मुमुक्षु 'दीपक' !

धर्मलाभ ।

परमात्मा की असीम कृपा से आनन्द है । थोड़े दिन पूर्व तुम्हारा पत्र मिला था, परन्तु व्यस्तता के कारण शीघ्र उत्तर न दे सका । आज अचानक ही तुम्हारा पत्र पुनः हाथ लगा.... और तुरन्त ही पत्र लिखने बैठ गया ।

तुमने पूछा है—**'वैराग्यशतक'** ग्रन्थ के कर्त्ता कौन हैं ?

'वैराग्यशतक' ग्रन्थ के कर्त्ता कोई अज्ञात पूर्वाचार्य महर्षि हैं, उन्होंने ग्रन्थ के अन्त में भी अपने नाम का कोई उल्लेख-निर्देश नहीं किया है ।

हाँ, इस ग्रन्थ पर संस्कृत भाषा में एक 'टीका' उपलब्ध है जिसके कर्त्ता 'गुणविनय गणी' हैं । उन्होंने ग्रन्थकार के भाव को यथासम्भव खोलने का प्रयास किया है ।

सचमुच, यह एक अनमोल ग्रन्थ है। वैराग्य के प्रगटीकरण के लिए, वैराग्य की ज्योति को अधिक प्रज्वलित करने के लिए और वैराग्य के दृढ़ीकरण/स्थिरीकरण के लिए इस प्रकार के ग्रन्थों का स्वाध्याय, मनन और चिन्तन अत्यन्त लाभप्रद होता है।

हमारे जीवन पर निमित्त और वातावरण का अत्यधिक असर पड़ता है। निमित्त जड़ होने पर भी वह आत्मा को अत्यन्त प्रभावित करता है।

शब्द/अक्षर जड़ और पुद्‌गल स्वरूप होने पर भी उसका अपनी आत्मा पर अत्यन्त प्रभाव पड़ता है।

आधुनिक विज्ञान ने शब्द/ध्वनि के विषय में खूब शोध की है।

ध्वनि के माध्यम से अनेक रोगों की चिकित्सा भी हो रही है।

- यूनानी कथाओं में इस प्रकार के संगीत का वर्णन मिलता है, जिसे सुनकर व्यक्ति बेहोश हो जाता था और कभी मर भी जाता था।

- कहते हैं बैजूबावरा का संगीत सुनकर हिरण दूर-दूर से दौड़कर आ जाते थे।

- सुना है, एक बार सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ पण्डित ओंकारनाथ लाहौर के प्राणी-गृह को देखने गये। पंडितजी को देखते ही एक बाघ गर्जना करने लगा····तुरन्त ही पण्डितजी ने एक राग

छेड़ी···राग का श्रवण करते ही वह बाघ पले हुए कुत्ते की भाँति एकदम शान्त होकर पंडितजी को देखने लगा ।

• रूसी वैज्ञानिक एस. बी. कोदाफे ने संगीत द्वारा आँखों की बीमारी दूर करने के सफल प्रयोग किये हैं ।

• ध्वनि-तरंगों का विज्ञान/मंत्रविज्ञान अतिप्राचीन है। मंत्र-शक्ति से आत्मा की सुषुप्त चेतना को पुनः जाग्रत कर सकते हैं और आत्मा की अधोगामी चेतना का पुनः ऊर्ध्वीकरण कर सकते हैं ।

तीर्थंकर परमात्मा मालकोश राग में उपदेश देते थे····जिसे सुनते ही हिंसक प्राणी के भी हिंसक/क्रूर/रौद्र परिणाम तुरन्त नष्ट हो जाते थे और वे प्राणी भी अत्यन्त शान्त व गंभीर बन जाते थे।

शब्द की प्रभावशाली शक्ति से कोई इन्कार नहीं कर सकता है ।

शब्द-शक्ति के विषय में इतनी पूर्व-भूमिका लिखने का यही उद्देश्य है कि कहीं शब्द-शक्ति से अज्ञात बनकर तुम गफलत में न आ जाओ ।

• शब्द का भी सत्संग होता है ।

• अच्छे शब्दों का पठन-पाठन व स्वाध्याय हमारी अन्तरात्मा को जाग्रत करता है और बुरे शब्दों का पठन-पाठन व वाचन हमारी चित्तवृत्तियों को मलिन बनाता है ।

आज समाज व राष्ट्र में व्यक्ति का नैतिक स्तर नीचे गिरता जा रहा है, उसके पीछे अशुभ शब्दों से दूषित वातावरण भी कारण है। चारों ओर अश्लील शब्द व संगीत से वातावरण दूषित बनता ही जा रहा है....चारों ओर हल्के व अश्लील साहित्य का पठन-पाठन व प्रचार-प्रसार बढ़ता ही जा रहा है। इसी के फलस्वरूप लोगों के नैतिक जीवन में गिरावट आती जा रही है।

पवित्र शब्दों का पठन-पाठन, चिन्तन-मनन मात्र हमारे चित्त को ही प्रसन्न नहीं करता है, बल्कि हमारी आत्मा को भी विशुद्ध बनाता है।

ठीक ही कहा है—"शस्त्र प्रहार से होने वाले जख्म की अपेक्षा शब्द-प्रहार का जख्म भयंकर होता है।"

"A wound from a tongue is worse than a wound from a sword, for the latter affects only the body, the former the spirit."

एक ऐसा ही वाक्य है—

'The tongue is but three inches long, yet it can kill a man six feet high.

'जीभ भले ही तीन इंच लम्बी है, परन्तु वह छह फुट के आदमी को खत्म कर सकती है।'

- सत्साहित्य/सद्वाचन जीवन की अमूल्य निधि है, जो आत्मा को उत्थान के पथ पर आगे बढ़ाती है, खराब साहित्य का वाचन

आत्मा के लिए विषपान से भी अधिक भयंकर है। विष तो एक जीवन का ही विनाश करता है, जबकि अशुभ साहित्य आत्मा के शुभ परिणामों का नाश कर आत्मा का भयंकर विनाश कर देता है।

शब्द की विनाश-लीला से बचने के लिए प्रतिदिन सत्साहित्य का सत्संग करना चाहिये। पूर्वाचार्य विरचित ग्रन्थों के पठन-पाठन, स्वाध्याय, चिन्तन-मनन से आत्मोत्थान के मार्ग में आगे बढ़ने के लिए नई स्फूर्ति की प्राप्ति होती है।

जीवन अर्थात् आयुष्य की अनित्यता बतलाते हुए **'वैराग्य-शतक'** में कहा है——

दिवसनिसाघडिमालं, आउं सलिलं जियाण घेत्तूणं।
चंदाइच्चबइल्ला, कालऽरहट्टं भमाडंति ॥ ५ ॥

अर्थ—चन्द्र और सूर्य रूपी बैलों से जीवों के आयुष्य रूपी जल को दिन और रात रूपी घट में ग्रहण कर काल रूपी अरहट जीव को घुमाता है।

ग्रन्थकार महर्षि विविध उपमाओं के द्वारा हमें जीवन की अनित्यता समझा रहे हैं।

जिस प्रकार एक किसान अरहट चलाकर मिट्टी के घड़ों द्वारा बैलों को घुमाकर कुए से जल निकालता है, उसी प्रकार काल रूपी किसान अरहट को घुमा रहा है, जिसमें सूर्य और चन्द्र रूपी बैल जुते हुए हैं, दिन और रात रूपी घड़े हैं। इस अरहट को घुमाकर जीव का आयुष्य रूपी जल खींचा जा रहा है :

दिन-प्रतिदिन आयुष्य रूपी पानी निकालने के कारण जीवात्मा का आयुष्य रूपी कुआ एक दिन खाली हो जाएगा....और जीवात्मा को एक दिन संसार से विदाई लेनी पड़ेगी।

दिल्ली से बम्बई तक की यात्रा में यदि सीट का आरक्षण हो तो यात्री निश्चिन्त रहता है....गाड़ी आने के पूर्व उसे कोई चिन्ता नहीं रहती है, परन्तु टिकट या आरक्षण न हो तो सतत चिन्ता बनी रहती है, उसी प्रकार इस जीवन से विदाई के पूर्व यदि सद्गति का आरक्षण करा दिया होगा तो तुम निश्चिन्त रह सकोगे....अन्यथा मृत्यु के समय हाय! हाय! रही तो आत्मा की दुर्गति निश्चित ही है।

दुर्गति से बचने के लिए समाधिमय मरण आवश्यक है और समाधिमरण के लिए समाधिमय जीवन आवश्यक है।

जिनाज्ञानुसार जीवन अर्थात् समाधिमय जीवन। समाधिमय जीवन का फल समाधिमय मरण है और समाधिमय मरण का फल सद्गति की प्राप्ति है।

समाधिमय जीवन अर्थात् समत्वयुक्त जीवन।

समत्वयुक्त जीवन अर्थात् ममत्वरहित जीवन।

- समत्व की साधना के लिए कषायों पर जय अनिवार्य है।
- ममत्व-त्याग के लिए इन्द्रिय-संयम अनिवार्य है।
- ममत्व पर विजय पाने के लिए इन्द्रियों के अनुकूल विषयों का त्याग अनिवार्य है।

त्याग के लिए विरक्ति जरूरी है और विरक्ति के लिए प्रतिदिन वैराग्य की भावना जरूरी है।

रात्रि में सोते समय इस प्रकार भावना करो––

(१) अहो ! संसार में स्वामी-सेवक आदि के सम्बन्ध कितने अस्थिर हैं ? कल जो करोड़पति था····आज वह 'रोड'पति (गरीब) हो गया।

(२) कल जो अत्यन्त रूपवान और हृष्ट-पुष्ट था····आज वह कैंसर के भयंकर रोग से ग्रस्त हो गया।

(३) कल जो सत्ता में था····हजारों व्यक्ति जिसकी आज्ञा का पालन करते थे····आज वह सत्ताहीन हो गया, उसका कोई नाम भी नहीं लेता है।

(४) कल जो भव्य महल बनाया था, आज भूकम्प के कारण धरती में विलीन हो गया।

वैराग्य भावना के दृढ़ीकरण के लिए इस सज्झाय को तुम अवश्य याद करना, बड़ा आनन्द आएगा––

तू चेत मुसाफिर चेत जरा,
क्यों मानत मेरा-मेरा है।
इस जग में नहीं कोई तेरा है,
जो है सो सभी अनेरा है।
स्वारथ की दुनिया भूल गया,
क्यों मानत मेरा-मेरा है ॥ १ ॥

कुछ दिन का जहाँ बसेरा है,
नहीं शाश्वत तेरा डेरा है।
कर्मों का खूब जहाँ घेरा है,
क्यों मानत मेरा-मेरा है ॥ २ ॥

यह काया नश्वर तेरी है,
एक दिन वह राख की ढेरी है।
जहाँ मोह का खूब अंधेरा है,
क्यों मानत मेरा-मेरा है ।। ३ ।।

बुरी यह दुनियादारी है,
दु:ख जन्म-मरण की क्यारी है।
दु:खदायक भव का फेरा है,
क्यों मानत मेरा-मेरा है ।। ४ ।।

गति चार की नदियाँ जारी हैं,
भवसागर बड़ा ही भारी है।
ममता वश जहाँ बसेरा है,
क्यों मानत मेरा-मेरा है ।। ५ ।।

मन आत्मकमल में जोड़ लियो,
लब्धि माया को छोड़ दियो।
गुण मस्तक संजम शेरा है,
क्यों मानत मेरा-मेरा है ।। ६ ।।

प्रिय 'दीपक' !

ज्यादा क्या लिखूँ ? तुम स्वयं समझदार हो। वैराग्य की भावना से अपनी आत्मा को भावित कर अनादि की मोह-नींद का त्याग कर आत्म-कल्याण के पथ पर आगे बढ़ो। इसी शुभेच्छा के साथ—

—रत्नसेनविजय

14

ज्वाला नहीं ज्योति बन जलना सीखो ,
काँटें नहीं फूल बन खिलना सीखो ।
जीवन में आने वाली कठिनाइयों से ,
डरना नहीं, समझकर चलना सीखो ।।

प्रिय मुमुक्षु 'दीपक' !

धर्मलाभ ।

परमात्म-कृपा से आनन्द है ।

ग्रामीण क्षेत्रों में विहार-यात्रा सानन्द चल रही है । संयमी-जीवन के लिए ग्रामीण क्षेत्र हर तरह से अनुकूल है ।

शहरी वातावरण में दिन-प्रतिदिन बीभत्सता/विषमता बढ़ती जा रही है । आहार-शुद्धि नष्ट होती जा रही है । शुद्ध आहार के अभाव के कारण जीवन की सात्त्विकता नष्ट होती जा रही है ।

कहावत भी है—'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन ।' 'आहार जैसी डकार' ।

कन्दमूल, रात्रि-भोजन, बासी भोजन, बैंगन, बर्फ तथा

विविध शरबत आदि शारीरिक, धार्मिक और आध्यात्मिक, हर दृष्टि से नुकसानकारी हैं।

जितने भी जमींकंद हैं, वे सब अनन्तकाय कहलाते हैं। उन सब में अनन्त जीव हैं। कन्दमूल का भक्षण करने से अनन्त जीवों की हिंसा होती है। जीवन-निर्वाह के लिए आहार-ग्रहण करना हो पड़े...तो कम-से-कम इन अभक्ष्य पदार्थों का त्याग तो अवश्य करना ही चाहिये।

दुर्लभता से प्राप्त यह मानव-जीवन आत्म-कल्याण और संयम-साधना के लिए है।

रात्रि में भोजन करने से अनेक सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है। सूर्यास्त के साथ ही चारों ओर वातावरण में असंख्य सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति हो जाती है, वे जीव आँखों से अगोचर होते हैं। विद्युत्प्रकाश में भी उन्हें देखा नहीं जा सकता है।

रात्रिभोजन स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हानिकारक है। दिन में सूर्य की गर्मी होने से भोजन सहजता से पच जाता है, जबकि रात्रि में सूर्य-किरणों के अभाव के कारण पाचन-तंत्र कमजोर हो जाता है। अतः रात्रि में किया गया भोजन अनेक रोगों को भी आमन्त्रण देता है।

जीवन के लिए आहार की आवश्यकता रहती है, परन्तु केवल आहार के लिए यह जीवन नहीं है।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि तुमने जीवन भर के लिए रात्रिभोजन त्याग की प्रतिज्ञा स्वीकार की है।

प्रिय 'दीपक' !

महान् पुण्योदय से प्राप्त इस मनुष्य-जीवन को भोग-वैभव और विलासिता में नष्ट कर देना बुद्धिमत्ता नहीं है। संसार के भौतिक सुख वास्तव में सुख ही नहीं हैं। महापुरुषों ने तो संसार के सुख को दुःख रूप, दुःखफलक और दुःखानुबन्धी ही कहा है।

जो क्षणिक हो, दुःखमिश्रित हो, पराधीन हो, उसे सुख कैसे कहा जा सकता है?

All that glitters is not gold. जो कुछ चमकता है, वह सब सोना नहीं होता है—इसी प्रकार दुनिया में जो कुछ 'सुख' दिखाई देता है, वह सब सुख रूप नहीं है। वह 'सुख' या तो सुखाभास रूप होता है अथवा दुःखाभाव रूप।

तारक तीर्थंकर भगवन्तों ने बतलाया है कि सुख आत्मा का स्वभाव होने से दुनिया के किसी पदार्थ में से उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। उष्णता अग्नि का स्वभाव होने से, जल से उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। जल का स्वभाव शीतलता है, गर्म जल में जो उष्णता दिखाई देती है, वह मूल रूप से जल की नहीं है, बल्कि अग्नि की ही है। अग्नि का संसर्ग दूर होने के साथ ही जल शीतल होता जाता है। बस, इसी प्रकार सुख आत्मा का धर्म होने से जड़ पदार्थों में से उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है।

जिस प्रकार हड्डी के टुकड़ों को जोर-जोर से चबाने से कुत्ते की दाढ़ों में से ही रक्त बहता है और उस रक्त का स्वाद आने पर कुत्ता यह मान लेता है कि 'मुझे इस हड्डी में से स्वाद मिल रहा है'। इसी अज्ञानता के कारण वह उस हड्डी को जोर-जोर

से चबाता रहता है। हड्डी में से रक्त की प्राप्ति कुत्ते का भ्रम ही है। इसी प्रकार जड़ पदार्थों में सुख की कल्पना करना भी भ्रान्ति रूप ही है, इस भ्रान्ति के दूर होने पर ही आत्मा का प्रयास, आत्म-सुख की प्राप्ति के लिए होता है।

परन्तु अनादि के मोह के आवरण के कारण बाह्य पदार्थों में ही सुख की भ्रान्ति के कारण, आत्मा उन्हीं पदार्थों को जोड़ने के लिए प्रयत्नशील बनता है। स्व-स्वरूप की अज्ञानता के कारण जड़-देह में आत्मा की बुद्धि करके उसी के रक्षण और संवर्धन में आत्मा प्रयत्नशील बनती है···परन्तु हम यह भूल जाते हैं कि यह देह तो क्षण विनश्वर है।

'वैराग्यशतक' की ७वीं गाथा में देह की विनश्वरता को बतलाते हुए बहुत ही सुन्दर कहा है—

'सा नत्थि कला तं नत्थि,
ओसहं तं नत्थि किं पि विन्नाण।
जेण धरिज्जइ काया,
खज्जंती कालसप्पेणं ॥ ७ ॥

अर्थ—ऐसी कोई कला नहीं है, ऐसी कोई औषधि नहीं है, ऐसा कोई विज्ञान नहीं है कि जिसके द्वारा काल रूपी सर्प के द्वारा खाई जाती हुई इस काया को बचाया जा सके।

काया की नश्वरता का कितना सटीक चित्रण है!

दुनिया में अनेक प्रकार की औषधिय उपलब्धाँ हैं, जिनके द्वारा अनेक प्रकार के रोग मिटाये जा सकते हैं···परन्तु ऐसी कोई

ग्रौषधि/दवाइ नहीं है जिसके द्वारा काया को 'मृत्यु' से बचाया जा सके।

दुनिया में ग्रनेक प्रकार की कलाएँ हैं—संगीतकला, नाट्यकला, वाद्यकला, शस्त्रकला, शास्त्रकला, कवित्व, काव्य-कला ग्रादि-ग्रादि, परन्तु दुनिया में ऐसी कोई कला नहीं है जिसके द्वारा मृत्यु को जीता जा सके। दुनिया के बाह्य शत्रु को खत्म करना ग्रासान बात है, परन्तु दुनिया को खत्म करने वाली मृत्यु को मारना किसी के वश की बात नहीं है। पुरुषों की ७२ कलाएँ दुनिया में प्रसिद्ध हैं ग्रौर स्त्रियों की ६४ कलाएँ प्रसिद्ध हैं, परन्तु इन १३६ कलाग्रों में ऐसी एक भी कला नहीं है, जिसके द्वारा मृत्यु को जीता जा सके, मृत्यु को वश में किया जा सके।

ग्राधुनिक विज्ञान ने ग्रनेक प्रकार की शोध की है। वायु-यान के द्वारा हजारों मील दूर की यात्रा कर सकते हैं। दूर रहे दृश्य को दूरदर्शन पर प्रत्यक्ष निहार सकते हैं। दूर बैठे व्यक्ति से फोन पर परस्पर बातचीत कर सकते हैं। वायरलैस के माध्यम से दूर-दूर तक संदेश पहुँचा सकते हैं। विज्ञान ने ग्रनेक प्रकार की खोज की है, परन्तु मृत्यु के मुख से तो वह भी नहीं बचा सका है।

काल रूपी सर्प ग्रपनी काया का सतत भक्षरण कर रहा है।

दुनिया में ऐसा कोई पदार्थ, ऐसी कोई शक्ति या सामर्थ्य नहीं है कि इस काल सर्प से ग्रपनी ग्रात्मा को बचाया जा सके।

दुनिया के पदार्थ प्रतिक्षरण नष्ट होते हैं। प्रतिक्षरण पदार्थ की पर्याय बदलती जाती है। प्रतिक्षरण वस्तु पुरानी होती जा रही है....उसे रोका नहीं जा सकता।

• प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यात्मक स्वरूप वाला है। प्रति समय वस्तु की पूर्व पर्याय का विच्छेद होता जा रहा है और नवीन पर्याय की उत्पत्ति होती जा रही है।

बिल्डिंग के निर्माण के साथ ही उसका धराशायी होना प्रारम्भ हो जाता है···परन्तु प्रायः वह 'ध्वंस' चर्म चक्षुओं से खयाल में नहीं आता है। वह 'ध्वंस' इतना सूक्ष्म और गतिशील है कि हम उसके अन्तर को पकड़ नहीं पाते हैं।

बिजली का प्रवाह भी क्रमिक होता है, परन्तु वह प्रवाह तीव्र गति से होने के कारण हमें ऐसा ही लगता है मानों हजारों बल्ब एक साथ ही जले हों। हजार बल्ब तक विद्युत् एक ही समय में नहीं पहुँची है, विद्युत् का प्रवाह क्रमिक ही हुआ है, परन्तु उसकी तीव्रगति के कारण हमें यह भ्रम हो जाता है कि ये बल्ब एक साथ जले हैं।

प्रत्येक पदार्थ प्रति समय क्षीण होता जाता है···परन्तु उस पर्याय-परिवर्तन की गति अत्यन्त तीव्र होने से हम उसे पकड़ नहीं पाते हैं।

अपनी काया प्रतिसमय जर्जरित हो रही है। उसका सौन्दर्य प्रतिसमय लूटा जा रहा है, परन्तु अफसोस! अज्ञानता और मोह के कारण नश्वरस्वभावी काया हमें स्थिर दिखाई देती है···उसकी किसी पर्यायविशेष को देखकर हम उस पर मोहित हो जाते हैं और उस पर राग कर बैठते हैं।

● याद करें---गजसुकुमाल महामुनि को। श्वसुर ने उनके सिर पर जलते हुए अंगारे डाल दिये थे···फिर भी वे हिले नहीं,

अडिग ही रहे। इतना ही नहीं, देह के प्रति निर्मम बने हुए वे मुनिवर सोचने लगे, 'जो जल रहा है, वह मेरा नहीं है और जो मेरा है, वह कभी जलने वाला नहीं है।'

देह और आत्मा भिन्नस्वभावी हैं। देह नश्वर है, आत्मा शाश्वत है। देह विनाशीक है, आत्मा अविनाशी है। अतः देह के पुजारी मिटकर आत्मा के पुजारी बनो। देह के राग का त्याग कर आत्मा का राग प्रकट करो।

देह विनाशीक तत्त्व है, आत्मा अविनाशी है अतः देह के वियोग में दुःखी न बनो, देह के संयोग में राजी न हो। देह के नाश में अपना नाश न मानो।

मुमुक्षु 'दीपक' !

देह में आत्मबुद्धि का त्याग कर आत्मा में आत्मबुद्धि करना ही अन्तरात्मदशा है। परमात्म-दशा की प्राप्ति के लिए अन्तरात्मदशा की प्राप्ति अनिवार्य है।

देह में आत्मबुद्धि को त्यागकर, आत्मा में आत्मबुद्धि स्थिर कर शीघ्र ही परमात्म-पद की प्राप्ति करो—इसी शुभेच्छा के साथ—

—रत्नसेनविजय

15

> किसके रोने से कौन रुका है, कभी यहाँ ?
> जाने को ही आए हैं, सच ही सब जाएंगे।
> चलने की ही तो तैयारी बस जीवन है,
> कुछ सुबह-दोपहर में गए, कुछ डेरा शाम उठाएंगे ।।

प्रिय मुमुक्षु 'दीपक' !

धर्मलाभ ।

परमात्म-कृपा से आनन्द है ।

ग्रामीण क्षेत्रों में विहार करते हुए जामनगर शहर में हमारा आगमन कुछ ही दिनों पूर्व हुआ था। थोड़े ही दिनों पूर्व यहाँ के नगरनिगम की ओर से ५० लाख रु. की लागत से नवीन कत्ल-खाना खोलने की योजना प्रस्तुत की गई थी। इस योजना के समाचार सुनकर समस्त अहिंसाप्रेमी जनता ने इसका जोर-शोर से विरोध किया। जाहिर सभा हुई····प्रवचन हुए····विरोध में अनेक प्रस्ताव पारित किए गए। प्रजा के रोष व विरोध की वृत्ति को देखकर सरकार ने यह योजना रद्द कर दी।

ओहो ! भारत की आर्यभूमि····सौराष्ट्र की पवित्र भूमि पर यह क्या हो रहा है ?

जिस देश के नररत्नों ने अहिंसामाता की रक्षा के लिए अपने जीवन का भी बलिदान दे दिया था, आज उसी अहिंसा-माता का खुलेआम चीर (वस्त्र) खींचा जा रहा है।

भूतकाल में अनेक शासक हुए....परन्तु उन्होंने कभी प्रजा को मांसाहारी बनाने के लिए राजकीय स्तर पर कत्लखाने नहीं खुलवाये थे....परन्तु अफसोस है कि आज अपनी ही सरकार, 'अहिंसा' का गाना गाने वाली सरकार, खुलेआम हिंसा को प्रोत्साहन दे रही है। मूक व निरपराध पशुओं को मानों जीने का कोई अधिकार ही नहीं है, इस प्रकार सरकार स्वयं उन मूक पशुओं के कतल के लिए प्रोत्साहन दे रही है। यह कितने अफसोस की बात है।

मुमुक्षु 'दीपक' !

कल ही तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारे दिल में संसार के प्रति नीरसता का भाव दिन-प्रतिदिन दृढ़ बनता जा रहा है, जानकर मुझे अत्यन्त ही प्रसन्नता हुई।

दूसरे प्राणी की हिंसा कर, दूसरे प्राणी को भयभीत कर अभय/निर्भय रहने की इच्छा, विष का भक्षण कर जीवित रहने की इच्छा के समान ही है। जो दूसरे प्राणी की हिंसा करता है, उसे स्वयं मरना पड़ता है। जो दूसरे प्राणी को भयभीत करता है, वह स्वयं भयभीत रहता है। दूसरे प्राणी के जीवन में होली सुलगाने वाला अपने जीवन में दीवाली कैसे मना सकता है।

यदि जीवन चाहते हो तो दूसरे प्राणी को जीवन दो।

हिंसा का परिणाम अति भयंकर है। हिंसाजन्य पाप का

जब उदय होता है, तब व्यक्ति भयंकर दुःख, वेदना और संताप को प्राप्त करता है।

वास्तव में, दूसरे प्राणी के द्रव्यप्राणों की हिंसा कर, व्यक्ति स्वयं के भावप्राणों की ही हिंसा करता है। इससे सिद्ध होता है कि दूसरे प्राणी की हिंसा, वास्तव में स्वयं की ही हिंसा है।

वैभव-विलासिता, सौन्दर्य व शृंगार के साधनों की प्राप्ति के लिए अनेक पंचेन्द्रिय जीवों का आज वध किया जाता है।

नश्वर देह का सौन्दर्य कितने समय के लिए है? इस देह को सजाने के लिए अत्यन्त क्रूरता से प्राप्त सौन्दर्य-प्रसाधनों का उपयोग करना, कौनसी बुद्धिमत्ता है?

जिसके दिल में मुक्ति की तीव्र अभिलाषा जगी हो, जिसके दिल में संसार के प्रति विरक्ति का भाव जगा हो, उसे सौन्दर्य-प्रसाधनों के उपयोग में कोई आनन्द नहीं आता है।

देह का सौन्दर्य क्षणिक है,
आत्मा का सौन्दर्य शाश्वत है।

अतः देह के शृंगार का त्याग कर आत्मा के शृंगार के लिए प्रयत्न-पुरुषार्थ करना चाहिये।

मृत्यु रूपी राक्षस संसारी जीवों के पीछे पड़ा हुआ है, जो सतत त्रस और स्थावर जीवों का भक्षण कर रहा है, फिर भी उसे कभी तृप्ति का अनुभव नहीं हो रहा है।

एक सुन्दर उपमा के द्वारा **'वैराग्य-शतक'** ग्रन्थ में काल के स्वरूप को समझाया गया है—

दीहरफरिंगदनाले,
महियरकेसर दिसामहदलिल्ले ।
ओ पियइ कालभमरो,
जरामयरंदं पुहविपउमे ॥ ८ ॥

अर्थ—'खेद है कि दीर्घ फणिधर रूपी नाल पर पृथ्वी रूपी कमल है, पर्वत रूपी केसराए और दिशा रूपी बड़े-बड़े पत्र हैं, उस कमल पर बैठकर काल रूपी भ्रमर सतत जीव रूपी मकरन्द का पान कर रहा है ।'

जिस प्रकार भ्रमर सतत पुष्प के पराग/मकरन्द के पान में मस्त रहता है....दिन और रात के भेद को वह भूल जाता है, उसी प्रकार काल रूपी भ्रमर सतत जीव रूपी मकरन्द का पान करता ही जा रहा है । इसमें कब अपना क्रम (नम्बर) आ *जाएगा, कुछ भी पता नहीं है ।*

आए दिन अखबारों में अनेक व्यक्तियों की मृत्यु के समाचार पढ़ते हैं....सुनते हैं, फिर भी हम अपने आपको मृत्यु से सुरक्षित ही समझते हैं ।

'मृत्यु' के संदर्भ में हमने दो सुरक्षा-शस्त्र खड़े कर लिए हैं—

(१) 'मृत्यु' सदा दूसरों की होती है ।

(२) 'मृत्यु' बहुत दूर है ।

इस प्रकार की चित्तवृत्ति के कारण हम स्वयं की मृत्यु को भूल बैठे हैं और जो मृत्यु को भूल बैठा है, वही व्यक्ति, संसार के पदार्थों के साथ अपने संबंध दृढ़ करता जाता है ।

यह जीवन मुसाफिरखाने की भाँति है। जीवन तो विश्राम-गृह है। विश्राम-गृह में आखिर कितने समय तक रुका जाता है? रुका जा सकता है? परन्तु हमारा यही पागलपन है कि हमने 'विश्राम-गृह' को 'अपना गृह' मान लिया है और उसी भूल के कारण उसी को सजाने में....उसी के संरक्षण में सदा प्रयत्नशील रहे हैं।

किसी कवि ने आत्म-जागृति के लिए बहुत ही सुन्दर बात कही है—

मोह से तेरा कमाया,
धन यहीं रह जाएगा।
प्रेम से अति पुष्ट किया,
तन जलाया जाएगा॥

तन फना है, धन फना है,
स्थिर कोई जग में नहीं।
प्राण प्यारा पुत्र दारा,
सब यहाँ रह जाएगा॥

मात नहीं है, तात नहीं है,
सुत नहीं, तेरा सगा।
स्वार्थ से सब अपने होते,
अन्त में देते दगा॥

एकला यहाँ पे तू आया,
एकला ही जाएगा।
क्यों बुरे तू कर्म करता,
नरक में दुःख पाएगा॥

कवि ने कितनी सुन्दर और मार्मिक बात कही है !

'मोक्ष' ही अपना वास्तविक घर है। दुनिया के घर तो अल्पकालीन है। मोक्ष में ही हम सदा के लिए अवस्थित रह सकते हैं।

जिस प्रकार सरकारी नौकरी करने वाला कर्मचारी एक स्थान में स्थायी नहीं होता है, उसका ट्रांसफर होता रहता है, उसी प्रकार कर्म की नौकरी करने वाला संसारी जीव भी एक स्थान (एक भव) में हमेशा के लिए स्थायी नहीं रह सकता, एक भव से दूसरे भव में एक शरीर से दूसरे शरीर में उसका ट्रांसफर होता ही रहता है। वह चाहे या न चाहे, उसे अपना घर/अपना देह बदलना ही पड़ता है।

मुमुक्षु 'दीपक' !

हाँ ! एक ऐसा भी उपाय है, जिसके द्वारा मृत्यु पर (अन्तिम मृत्यु द्वारा) विजय पाई जा सकती है।

- गजसुकुमाल महामुनि ने अन्तिम मृत्यु के द्वारा भी मृत्यु को मार डाला था।

- खन्धक मुनि, मेतारज मुनि, दृढ़प्रहारी, प्रभु महावीर आदि-आदि ने समत्वयोग की साधना द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली थी।

समत्वयोग की साधना द्वारा वे एक ऐसी स्थिति को प्राप्त हो चुके थे कि जहाँ मृत्यु उनका पीछा नहीं कर सकती। वे सदा के लिए मृत्यु से परे पहुँच चुके थे। वे शाश्वत-जीवन के भोक्ता बन चुके थे।

पसन्द है न तुझे वह शाश्वत जीवन, जहाँ मृत्यु का नामो-निशान ही नहीं है। जहाँ सदा के लिए जीवन है, सदा के लिए आनन्द है, सदा के लिए बन्धन-मुक्ति है। जहाँ आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है....स्वतन्त्र जीवन है....जहाँ आत्मा सतत ज्ञाता-द्रष्टा बनकर अक्षय आनन्द का अनुभव करती है। आत्मा की ऐसी ही स्थिति को तीर्थंकर परमात्मा ने 'मोक्ष' कहा है।

यह दुर्लभ मानव-जीवन उसी की साधना के लिए है। उसी की प्राप्ति के पुरुषार्थ में जीवन की सफलता/सार्थकता है।

अपने समस्त पुरुषार्थ का लक्ष्य उसी को बनाओ।

समयाभाव के कारण आज पत्र यहीं समाप्त करता हूँ। तुम्हारे प्रतिभाव को जानकर विशेष बातें अगले पत्र में लिखूंगा।

शेष शुभम्। —**रत्नसेनविजय**

All the world is a stage and all the men and women merely players.

सम्पूर्ण विश्व एक नाट्यशाला है और सभी स्त्री-पुरुष उसके अभिनयकर्त्ता हैं।

16

भोर भयो उठ जाग मुसाफिर !
क्यों वृथा समय गुमावत है ?
जो जागत है सो पावत है।
जो सोवत है सो खोवत है।

प्रिय मुमुक्षु 'दीपक' !

धर्मलाभ ।

परमात्म-कृपा से आनन्द है ।

कोई कल्पना भी नहीं थी कि इतना जल्दी तुम्हारा पत्र मुझे मिल जाएगा ।

संसार के बन्धनों को तोड़कर वीतराग-पथ का मुसाफिर बनने की तुम्हारी भावना को जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई ।

जब तक जगत् के पदार्थों का, संसार के सम्बन्धों का यथार्थ बोध नहीं होता है, तभी तक संसार और संसार के पदार्थों के प्रति एक झूठा आकर्षण होता है ।

जिस प्रकार हाथी के दिखावे के दाँत अलग होते हैं और चबाने के दाँत अलग होते हैं, उसी प्रकार जगत् का स्वरूप भी

द्विरंगी है। उसके बाह्य आकार और अन्तरंग आकार में रात और दिन का अन्तर है।

जो सांसारिक पदार्थ बाहर से अत्यन्त आकर्षक, चमकदार और सुख-प्रदर्शक लगते हैं, उन्हीं पदार्थों का संसर्ग करने पर वे ही पदार्थ अत्यन्त दुःखदायी प्रतीत होते हैं।

कँटीली झाड़ियों से व्याप्त पर्वत दूर से ही सुहावने लगते हैं, निकट जाने पर तो पत्थर और काँटें ही हाथ लगते हैं, उसी प्रकार सांसारिक पदार्थों का आकर्षण भी दूर से ही होता है, निकट जाने पर तो वे ही अत्यन्त नीरस प्रतीत होते हैं।

मुमुक्षु 'दीपक' !

जरा शान्ति से विचार करो।

जो स्वयं छह-छह खण्ड के अधिपति-चक्रवर्ती थे, जो आठ सिद्धियों और नौ निधियों के मालिक थे....जो ६४००० स्त्रियों के स्वामी थे; जिनके पास पारावार सैन्य थे....वैभव और विलास के भरपूर साधन थे; एक बटन दबाते ही अनेक नौकर चाकर जिनकी सेवा में रात और दिन खड़े पैर तैयार रहते थे, जिनके पास देवताओं का सान्निध्य था, प्रश्न खड़ा होता है ऐसे चक्रवर्तियों ने भी इच्छा-पूर्वक संसार का त्याग क्यों किया होगा ?

आनन्द की बात है कि हमारे इस प्रश्न का जवाब **'वैराग्यशतक'** ग्रंथ के कर्त्ता स्वयं ही दे रहे हैं।

छायामिसेण कालो, सयलजियाणं छलं गवेसंतो।
पासं कह वि न मुंचइ, ता धम्मे उज्जमं कुणह ।। ९ ।।

अर्थ—हे भव्य प्राणियो ! छाया के बहाने से सकल जीवों के छिद्रों का अन्वेषण करता हुआ यह काल (मृत्यु) हमारे सामीप्य को नहीं छोड़ता है, अतः धर्म के विषय में उद्यम करो ।

विपुल समृद्धि और सम्पत्ति के स्वामी होते हुए भी ज्योंही उन चक्रवर्तियों ने जगत् के यथार्थ क्षण-भंगुर स्वरूप को जाना, त्योंही उन्होंने बाह्य संसार का त्याग कर दिया ।

सनत्कुमार चक्रवर्ती ! जिसके पास रूप का अपूर्व वैभव था, इन्द्र ने भी जिसके अद्भुत रूप की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी····और जिसके रूप-दर्शन के लिए देवताओं का भी आगमन हुआ था····ऐसे सनत्कुमार चक्रवर्ती ने ज्योंही इस काया की विकृति के दर्शन किए, त्योंही उनके मन में विरक्ति की ज्योति प्रगट हो गई थी ।

'अहो ! कितनी क्षणभंगुर व विकृतियों से भरी हुई काया है ? जो पहले इतनी सुन्दर व आकर्षक थी, उसी में से अब बदबू आ रही है ।' सम्यग्ज्ञान रूपी चक्षु द्वारा उन्होंने काया के स्वरूप का वास्तविक दर्शन किया और तुरन्त ही संसार के बन्धनों का त्याग कर वे वीतराग-पंथ के पथिक बन गए ।

७०० वर्ष तक उन्होंने उन रोगों को समतापूर्वक सहन किया । अरे ! देवताओं ने आकर परीक्षा की । वैद्य के रूप में आकर एक देव ने जब शारीरिक-चिकित्सा के लिए निवेदन किया, तब वे यही बोले, 'मुझे काया के रोगों की फिक्र नहीं है, मुझे आत्मरोगों की चिन्ता है, यदि तुम उन रोगों को दूर करने में समर्थ हो तो मेरी चिकित्सा करो ।'

आखिर वैद्य के रूप में रहे देव को कहना पड़ा, 'आत्म-चिकित्सा का सामर्थ्य मुझ में नहीं है।'

अपना मूल स्वरूप प्रगट करते हुए देव ने कहा, 'धन्य है आपकी समत्व साधना को, इन्द्र महाराजा ने आपकी जैसी प्रशंसा की थी, वैसी ही समता के धनी आप हो'—इतना कहकर नत-मस्तक होकर देव ने वहाँ से विदाई ली।

'वैराग्यशतक' ग्रंथ के कर्त्ता हमें जगत् के यथार्थ स्वरूप के दर्शन करा रहे हैं। वे कहते हैं—'मृत्यु तुमसे दूर नहीं है, मृत्यु तो तुम्हारे साथ ही चल रही है, जिस प्रकार व्यक्ति की छाया, व्यक्ति को छोड़कर दूर नहीं रहती है, वह तो जहाँ जाए, साथ ही रहती है, उसी प्रकार मृत्यु भी छाया के बहाने से अपने साथ ही चल रही है।'

'जेबकतरे' के बारे में शायद सुना होगा? वह साथ ही चलता है और अवसर देखकर चुपके से जेब काट देता है। बस, इसी प्रकार मृत्यु अपने साथ ही चल रही है। वह सतत हमारे छिद्र शोध रही है। अवसर पाते ही वह अपना हमला कर देती है और हमारे स्वामित्व व सम्बन्धों को तोड़ देती है।

एक लेखक ने लिखा है, 'जन्म के साथ मौत निश्चित होती है, फिर भी डॉक्टर या स्वजन यह बात तभी कहते हैं, जब वह मौत के अति निकट पहुँच गया हो। परन्तु सत्य तो यह है कि जन्म के साथ ही बच्चे के लिए यह कह देना चाहिये 'यह जो बच्चा पैदा हुआ है, वह अब बच नहीं सकेगा।'

शास्त्र में भी कहा गया है—

'जीवात्मा का प्रतिसमय आवीचि मरण चालू है।'

जन्म के साथ ही मृत्यु हमारे साथ चल रही है, परन्तु अज्ञान व मोह के कारण उस मृत्यु के दर्शन हम नहीं कर पाते हैं।

अज्ञानी और ज्ञानी में यही तो अन्तर है कि अज्ञानी वस्तु के मात्र वर्तमान सुन्दर पर्याय का दर्शन कर उस वस्तु के प्रति राग कर बैठता है, जबकि ज्ञानी व्यक्ति वस्तु के मूल द्रव्य का विचार कर वस्तु के प्रति विरक्ति का भाव धारण करता है।

ठीक ही कहा है—

मधुरं रसमाप्य स्यन्दते,
रसनायां रसलोभिनां जलम्।
परिभाव्य विपाकसाध्वसं,
विरतानां तु ततो दृशिजलम्॥

अर्थ—मधुर रस (स्वादिष्ट भोजन) को देखकर रस के लोभियों (अज्ञानियों) की जीभ में रस टपकता है और उसी मधुर रस को देखकर, उसके परिणमनशील स्वभाव का विचार कर विरक्त पुरुषों (ज्ञानीजनों) की आँखों में आँसू होते हैं अर्थात् वे वस्तु की वर्तमान पर्याय में राग भाव धारण नहीं करते हैं।

हर व्यक्ति अपने २५-५० वर्ष के जीवन में अनेक व्यक्तियों और वस्तुओं के साथ स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, मामा-भाणेज, चाचा-भतीजा, भाई-भाई आदि विविध प्रकार के सम्बन्ध जोड़ता है और उन्हीं सम्बन्धों के दृढ़ीकरण के लिए सतत प्रयत्न

करता है, परन्तु मृत्यु रूपी कैंची उन समस्त सम्बन्धों को क्षण भर में काट देती है और उनके कट जाने पर व्यक्ति का वस्तु पर रहा हुआ स्वामित्व भी नष्ट हो जाता है ।

सतत साथ में रही मृत्यु को भी 'जिनधर्म' रूपी हथियार द्वारा नष्ट किया जा सकता है ।

'शांत सुधारस' में जिनधर्म से प्रार्थना करते हुए कहा गया है—

पालय पालय रे, पालय मां जिनधर्म !
शिवसुखसाधन, भवभयबाधन ,
जगदाधारगम्भीर ! पालय०

'हे जिनधर्म ! मेरा पालन करो, पालन करो । तुम ही शिवसुख का साधन हो, भव के भय से मुक्त कराने वाले हो, जगत् का आधार हो और गम्भीर हो ।'

जिनधर्म की शक्ति अनन्त है । उसको जीवन में आत्मसात् करने वाला स्वयं अनन्त शक्ति का पुंज बन जाता है । आत्मा में रही सुषुप्त अनन्त शक्ति को जागृत करने के लिए जिनधर्म ही परम आलम्बन है ।

मुमुक्षु 'दीपक' !

'अपना सद्भाग्य है कि हमें ऐसे महान् जिनधर्म की प्राप्ति सहजता से/सरलता से हो गई है····अब तो उसके प्रति जीवन समर्पित करने में ही जीवन की सफलता है । परमात्मकृपा से ऐसी सफलता तुम्हें भी मिले, यही शुभाभिलाषा है ।

—रत्नसेनविजय

17

> सच तो यह है कि जिस दिन बच्चा पैदा हुआ, उसी दिन से उसका मरण चालू हो गया है। उसी दिन जरा ने उसे पकड़ लिया है 'जरा वयोहानिः'। वह व्यक्ति प्रतिपल जीर्ण हो रहा है।

प्रिय मुमुक्षु 'दीपक'!

धर्मलाभ।

परमात्म-कृपा से आनन्द है।

स्वाध्याय-संयम आदि आराधना सानन्द चल रही है। कल ही तुम्हारा पत्र मिला था।

'वैराग्यशतक' ग्रन्थ को कण्ठस्थ करते हुए तुम्हें आनन्द आ रहा है, यह बात जानकर मुझे प्रसन्नता हुई।

शास्त्रकार महर्षियों ने स्वाध्याय को एक विशिष्ट योग कहा है। आत्मा को मोक्ष के साथ जोड़ने वाली क्रियाओं को योग कहा जाता है। स्वाध्याय से कर्मों की अपूर्व-निर्जरा होती है।

'स्वाध्याय' अभ्यन्तर तप है। स्व अर्थात् आत्मा। अध्याय अर्थात् अध्ययन करना। स्वाध्याय में आत्मा के स्वरूप, आत्मा

के गुण-धर्म, आत्मा की पर्यायें और आत्म-हितकारी पदार्थों के बारे में विचार-विमर्श किया जाता है। स्वाध्याय से आत्म-हितकारी ज्ञान की प्राप्ति होती है।

जिस पुस्तक/उपन्यास/जासूसी कथा आदि से आत्मा का अहित होता हो, उन्मार्ग का पोषण और सन्मार्ग का शोषण होता हो, तथा सुसंस्कारों का विनाश होता हो, उस प्रकार के साहित्य का पठन-पाठन नहीं करना चाहिये।

जिससे सन्मार्ग का यथार्थ बोध हो और सुसंस्कारों का सिंचन होता हो, उसी साहित्य का पठन-पाठन करना चाहिये।

वास्तव में तो गुरु-सान्निध्य में ही ज्ञानाभ्यास करना चाहिये। गुरु के विनय/बहुमान व भक्ति-पूर्वक जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह अल्प भी ज्ञान आत्मा के लिए विशेष लाभकारी बनता है।

गुरु का अविनय करके, गुरु की उपेक्षा करके जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह आत्मा के लिए लाभकारी नहीं बनता है, बल्कि नुकसानकारी ही बनता है।

शास्त्र में कहा है—**'मोक्षमूलं गुरोः कृपा'** मोक्ष का मूल गुरु की कृपा है। गुरु की कृपा वही शिष्य प्राप्त कर सकता है, जिसके हृदय में गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण भाव हो।

मन, वचन और काया इन त्रियोगों को गुरुचरणों में समर्पित करने वाला साधक अल्प भवों में ही भव के बन्धन से मुक्त होकर शाश्वत पद का भोक्ता बन जाता है।

गुरु-समर्पण अर्थात् गुरु-चरणों में स्व अधिकारों का विलीनीकरण। समर्पित शिष्य के लिए गुरु की आज्ञा ही सर्वस्व

होती है। उस आज्ञा-पालन के लिए, अपने जीवन की कुर्बानी देने के लिए भी वह सदा तैयार रहता है। ऐसे समर्पित शिष्य ही गुरु के हृदय में वास करते हैं।

याद करो---कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी भगवन्त के शिष्यरत्न आचार्यप्रवर श्री रामचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज को। कैसा अद्भुत समर्पण था, उनके जीवन में। गुरुदेव के विरह में भी गुरुदेवश्री की आज्ञा-पालन के लिए उन्होंने मृत्यु की भयंकर सजा भी सहर्ष स्वीकार की थी।

जो शिष्य अत्यन्त विनीत/नम्र और समर्पित है, उसे ही श्रुतज्ञान को प्राप्ति होती है और उसी श्रुतज्ञान के फलस्वरूप जीवन में विरक्ति और विरति की प्राप्ति होती है।

गुरु-विनय के साथ-साथ ज्यों-ज्यों सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है त्यों-त्यों संसार भयंकर लगता जाता है, संसार के विषय-सुख नीरस और तुच्छ प्रतीत होते हैं। सम्पूर्ण संसार एक नाटक की भाँति प्रतीत होता है।

'वैराग्यशतक' ग्रंथ में ठीक ही कहा है—

कालंमि अणाईए, जीवाणं विविहकम्मवसगाणं,
तं नत्थि संविहाणं, संसारे जं न संभवइ ॥ १० ॥

अर्थ— 'अनादिकालीन इस संसार में नाना कर्मों के आधीन जीवात्मा को ऐसी कोई पर्याय नहीं है, जो संभवित न हो।'

प्रस्तुत गाथा में कर्माधीन आत्मा की दुर्दशा का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। संसार में ऐसी कोई अवस्था या पर्याय नहीं है, जो अवस्था संसारी आत्मा प्राप्त नहीं करती हो।

दुनिया में भी देखते हैं—'जो गुलाम होता है, उसकी कैसी-कैसी दुर्दशा होती है ?'

बस, यही हालत कर्माधीन आत्मा की है ।

- जन्म धारण करना आत्मा का स्वभाव नहीं है, फिर भी कर्म की पराधीनता के कारण उसे अन्य-अन्य योनि में जन्म धारण करना पड़ता है ।

- 'मृत्यु' आत्मा का स्वभाव नहीं है, फिर भी कर्म की पराधीनता के कारण उसे बारम्बार मरना पड़ता है ।

- जरावस्था, रोग-शोक, आधि-व्याधि-उपाधि आदि आत्मा के स्वभावभूत धर्म नहीं हैं, फिर भी कर्म की पराधीनता के कारण आत्मा को उस प्रकार की पीड़ाएँ सहन करनी पड़ती हैं ।

अहो ! कितना अधिक आश्चर्य है कि आत्मा, अनन्त शक्ति की स्वामी होते हुए भी उसे कर्मराजा एक नट की भाँति नचाता है ।

देवगति और नरकगति तो परोक्ष हैं, उनकी पीड़ाओं को हम साक्षात् नहीं देख सकते हैं । मनुष्य और तिर्यंच की पीड़ाएँ तो प्रत्यक्ष हैं न !

कत्लखाने में चीरे जाने पर पशु की क्या हालत होती होगी ?

जीवित सूअर को अंगारों पर सेक दिया जाता है, तब उसकी क्या हालत होती होगी ?

सप्राण सर्प की चमड़ी उतार दी जाती है, तब उसे कितनी पीड़ा होती होगी ?

शिकारी पशुओं को भाले/तीर से बींध देते हैं, तब उन पशुओं को कितनी पीड़ा होती होगी ?

कैंसर के दर्दी की कराहें सुनी होंगी ? टी. बी., डायबिटीज, अलसर, ब्लडप्रेशर, हार्टअटेक आदि रोगों के दर्दियों को देखा होगा ?

रेल, प्लेन, बस, ट्रक आदि के भयंकर एक्सीडेंट के समय मानवों की जो दुर्दशा होती है, उसके शायद दर्शन किये होंगे ?

दुष्काल, अतिवृष्टि, बमवर्षा, अग्निप्रकोप आदि के समय जो भयंकर नरसंहार होता है, उस समय मनुष्यों की जो हालत होती है, उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते हैं।

ग्रन्थकार महर्षि फरमाते हैं कि इस संसार में अन्य-अन्य जीवों की जो पर्यायें हमें दिखाई देती हैं, उन सब पर्यायों का अनुभव हमारी आत्मा ने किया है।

संसार के समस्त सुखों का भोग भी हमारी आत्मा ने अनन्त बार किया है, अतः-दुनिया में पदार्थ व जीव की जिस पर्याय को देखकर हमें आकर्षण होता हो, उस समय सोचना चाहिये कि यह वर्तमान पर्याय मेरे लिए नयी नहीं है। अतः किसी विशिष्ट पर्यायविशेष से राग या द्वेष करना निरी अज्ञानता ही है।

संसार अनादिकाल से है।

संसार में आत्मा का अस्तित्व अनादिकाल से है और संसार में आत्मा और कर्म का संयोग भी अनादिकाल से है। अज्ञानता और मोह के कारण प्रत्येक आत्मा प्रतिसमय नये-नये कर्मों का बन्ध करती ही जा रही है और उन कर्मों के उदय के फलस्वरूप नाना प्रकार के जन्म धारण करती रहती है। कभी वह आत्मा

देव बनती है तो कभी मनुष्य। कभी पशु का जन्म धारण करती है तो कभी पक्षी का, कभी नरक में जाती है तो कभी निगोद में। कभी पुरुष के रूप में जन्म धारण करती है, कभी स्त्री के रूप में, तो कभी नपुंसक के रूप में, कभी राजा बनती है तो कभी रंक। कभी अत्यन्त शक्तिशाली के रूप में जन्म लेती है तो कभी अत्यन्त कमजोर प्राणी के रूप में।

संसार उसी का नाम है जहाँ आत्माएँ एक गति से दूसरी गति में संसरण- गमन करती रहती हैं।

मुमुक्षु 'दीपक' !

तुम ही विचार करो, ऐसा भंयकर संसार किसे रुचे ?

संसार के भयंकर और विषम स्वरूप को जानने के बाद भी जिसे संसार के प्रति रुचि पैदा हो···संसार व संसार के तुच्छ सुखों के प्रति आकर्षण पैदा होता हो, उसे 'भवाभिनन्दी' समझना चाहिये। ऐसे भवाभिनन्दी जीवों को मोक्ष के प्रति कोई रुचि नहीं होती है। भवाभिनन्दी जीवों में क्षुद्रता, लोभ, रति, दीनता, मत्सरता, भय, शठता तथा अज्ञानता आदि आठ दोष होते हैं। ऐसी भवाभिनन्दी आत्माएँ भव-चक्र में सतत परिभ्रमण करती रहती हैं।

जिसके दिल में संसार के प्रति विरक्ति का भाव होता है और जिसके दिल में एक मात्र मुक्ति-सुख की ही तीव्र अभिलाषा हो, उसे मोक्षाभिनन्दी कहते हैं।

परमात्मा की असीम कृपा से तुम्हारी अन्तरात्मा में भी संसार के प्रति विरक्ति और मोक्षाभिलाषा प्रगट हो, यही एक शुभेच्छा है।

—**रत्नसेनविजय**

18

> जरा और मरण के तेज प्रवाह में बहते हुए जीव को एक मात्र धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है।

प्रिय मुमुक्षु 'दीपक' !

धर्मलाभ।

परमात्म-कृपा से आनन्द है।

हमारी विहार-यात्रा व संयम-यात्रा सानन्द चल रही है। तुम्हारा पत्र मिला। तुम अपनी शारीरिक अस्वस्थता में भी मन को आर्त्तध्यान से बचाने के लिए और मन को शुभध्यान में जोड़ने के लिए **'शान्त सुधारस'** ग्रंथ का स्वाध्याय करते हो, जानकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

पूर्वकृत दुष्कर्म के उदय से जीवन में दुःख की प्राप्ति होती है। सुख-दुःख की प्राप्ति हमारे वश की बात नहीं है, वह तो कर्माधीन है, परन्तु उस सुख-दुःख में समाधि भाव बनाए रखना हमारे हाथ की बात है।

'सुख में लीन नहीं बनना और दुःख में दीन नहीं बनना' यही समाधि का मूल मंत्र है। संसार में सुख-दुःख दोनों कर्मकृत

हैं। समय के प्रवाह के साथ सुख-दुःख की अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। 'यह भी बीत जाएगा' को याद कर सुख में आसक्त नहीं बनना चाहिये और दुःख में दीन नहीं बनना चाहिये।

शारीरिक स्वास्थ्य कर्माधीन है। असाता वेदनीय कर्म का तीव्र उदय हो तो व्यक्ति अत्यन्त सावधानी रखते हुए भी रोग का शिकार बन जाता है, परन्तु चित्त का स्वास्थ्य/चित्त की प्रसन्नता अपने हाथ की बात है।

शारीरिक अस्वस्थता में मानसिक स्वास्थ्य को टिकाने के लिए इस प्रकार विचार करना चाहिए—

(१) यह रोग मेरे ही पूर्वकृत कर्म के उदय के कारण आया है, पूर्व भव में मैंने भूल की होगी, अतः उसकी सजा का स्वीकार मुझे करना ही चाहिये।

(२) कर्म एक प्रकार का ऋण 'कर्जा' है। पूर्व भव में दुष्प्रवृत्ति करके हम कर्म के देनदार बने हैं, उस दुःख को समतापूर्वक सहन कर लेने से मैं उस ऋण से मुक्त बन जाऊंगा।

(३) असाता के उदय में 'हाय! हाय'! करने से कोई दुःख जाने वाला नहीं है, अतः क्यों न उसे समतापूर्वक सहन किया जाय?

(४) दुःख में आर्त्तध्यान करने से पुनः नए-नए कर्मों का बन्ध होता है, उन कर्मों के उदय से पुनः नया दुःख आता है और इस प्रकार 'कर्म से दुःख और दुःख में पुनः नये कर्म का बन्ध' होने

से आत्मा का संसार-चक्र चलता ही रहता है, आत्मा के संसार-चक्र को तोड़ने के लिए दु:ख में समत्व भाव धारण करना अनिवार्य है। दु:ख में समता धारण करने से पुन: नए कर्म का बंध नहीं होता है।

(५) शारीरिक अस्वस्थता में अपने से अधिक रोगी व दु:खी के दु:ख का विचार करो। 'अहो! मुझे तो एक ही दिन बुखार आया है।' वह व्यक्ति तो १५ दिन से बुखार से हैरान हो रहा है। मुझे तो सामान्य चोट लगी है, उस बेचारे का तो हाथ ही कट गया है। मुझे तो सामान्य सिरदर्द है, उसके तो सिर की नस ही फट गई है। इस प्रकार अपने से अधिक दु:खी के दु:ख का विचार करने से दु:ख में राहत का अनुभव होगा।

(६) अपने किए गए पाप का फल अपने को ही भोगना पड़ता है, इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है।

(७) असाता पाप के उदय को हँसते-हँसते सहन करो या रोते-रोते, सहन तो करना ही पड़ेगा। जब सहना ही है तो हँसते-हँसते क्यों न सहन करें?

(८) अपने मन को समाधि-भाव में स्थिर करने के लिए भूतकाल में हुए महान् पुरुषों के चरित्र व प्रसंगों को नजर समक्ष लाना चाहिये और उनके समत्व-भाव की अनुमोदना करनी चाहिये।

१. धन्य है धन मुनि को! पत्नी स्वयं चारों ओर आग लगा रही है, फिर भी उनके दिल में लेश भी रोष नहीं। कितनी समतापूर्वक मरणान्तक उपसर्ग को सहन कर रहे हैं वे?

२. धन्य है गजसुकुमाल मुनि को ! श्वसुर सिर पर अंगारे डाल रहा है, फिर भी श्वसुर के प्रति क्रोध का नामोनिशान नहीं । वे तो अड़िग खड़े हैं, सोच रहे हैं 'अंगारा नीचे गिर गया तो निरपराध त्रस जीव मर जायेंगे ।'

३. धन्य है चिलातीपुत्र मुनि को ! चींटियों ने उनके देह को जाली जैसा बना दिया है, फिर भी उनकी समता कितनी है !

४. धन्य है मेतारज मुनि को ! आँख के डोले बाहर निकल आए हैं, फिर भी उनके दिल में सोनी के प्रति कोई रोष नहीं ।

५. धन्य है शालिभद्र मुनि को ! स्वयं फूल से कोमल और फूलों की शय्या पर हमेशा सोने वाले । वे पादोपगमन अनशन स्वीकार कर भयंकर ताप को सहन कर रहे हैं ।

६. धन्य है स्कंदिलाचार्य के चरमशिष्य बालमुनिवर को । फूल सी काया होने पर भी मरणांतक उपसर्ग में भी अपूर्व समता को धारण कर जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है ।

७. धन्य है खंधक मुनि को ! चमड़ी उतारी जा रही है, फिर भी उस चाण्डाल को उपकारी मान रहे ।

८. धन्य है वीर प्रभु को ! धन्य है दृढ़प्रहारी को ! धन्य है अर्णिकापुत्र आचार्य को ! धन्य है महासती साध्वी सीता को !

महापुरुषों के चरित्र-स्मरण से हमें दुःख सहन करने का बल प्राप्त होता है ।

९. असाता के उदय में **'शांतसुधारस, प्रशमरति** तथा **वैराग्यशतक'** आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय, मनन, चिन्तन आदि करना चाहिये।

दुःख में समाधि भाव के दृढ़ीकरण के लिए **'वैराग्यशतक'** की ११वीं गाथा में बहुत ही सुन्दर बात कही है। याद है न वह गाथा ?

बंधवा सुहिणो सव्वे, पियमायापुत्तभारिया।
पेयवणाओ नियत्तंति, दाऊणं सलिलंऽजंलि ।। ११ ।।

अर्थ—'सभी बान्धव, मित्र, पिता, माता, पुत्र, पत्नी आदि मृतक के प्रति जलांजलि देकर श्मसानभूमि से वापस अपने घर लौट आते हैं।'

अज्ञानता और मोह के कारण व्यक्ति यह आशा रखता है कि मेरे स्वजन आदि मेरे दुःख में सहायक बनेंगे; परन्तु आपत्ति व मृत्यु के समय यह भ्रम खंडित हो जाता है।

ठीक ही कहा है—

कौन याद करता है, अंधेरे वक्त के साथी को।
सुबह होते ही लोग, चिराग बुझा देते हैं।।

रात्रि में अंधेरा पड़ने पर दीपक को सभी याद करते हैं, परन्तु ज्योंही सूर्य उदय होता है, उस दीपक को बुझा देते हैं, दिन भर उसे कोई याद नहीं करता है। बस, इसी प्रकार संसार में भी जब तक स्वार्थ की सिद्धि होती है, तभी तक सभी व्यक्ति प्रेम करते हैं और जब कार्यसिद्धि हो जाती है, तब उसे दूर फेंक देते हैं, भूल जाते हैं।

संसार के स्वजन वास्तव में स्वजन कहाँ हैं ?

याद आ जाती हैं कवि की ये पंक्तियाँ—

धन दोलत ज्यां ने त्यां रहशे,
नारी आंगणियेथी वलशे,
मसाणसुधी बांधव भलशे,
काया राख बनी ने ढलशे,
वियोग सौ व्हालाना पडशे,
छूटशे ज्यारे प्राण..........।

'मुझे तो तू प्राण से भी प्यारा है' इस प्रकार की डींग हाँकने वाले मृत्यु के समय कोई साथ नहीं चलते हैं। अतः संसार के सम्बन्धियों में तीव्र-राग या आसक्ति नहीं करनी चाहिये।

मुमुक्षु 'दीपक' !

तुम जानते ही हो कि संसार के सम्बन्धी देह के सम्बन्धी हैं, जब तक इस देह का अस्तित्व है तभी तक वे सम्बन्ध जीवित रहते हैं, देह के नाश के साथ ही वे सब सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए तो ज्ञानी महापुरुषों ने अपने स्वरूप की सतत जागृति कराने के लिए **'संथारा पोरिसी'** में याद कराया है—

एगोऽहं, नत्थि मे कोइ, नाहमन्नस्स कस्सइ।
एवं अदीणमणसा, अप्पाणमणुसासइ ॥

अर्थ—मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है, मैं किसी का नहीं हूँ, इस प्रकार अदीन मन से आत्मा का अनुशासन करना चाहिये।

व्यक्ति या वस्तु के प्रति जहाँ दिल में ममत्व-बुद्धि जागृत होती है, वहीं उस वस्तु की प्राप्ति में राग और नाश में शोक पैदा होता है। जिस वस्तु के प्रति ममत्व-बुद्धि नहीं होगी, उस वस्तु को प्राप्ति में न तो राग होगा और न ही उस वस्तु के नाश में शोक होगा।

'एगोऽहं'—अर्थात् मैं एक मात्र आत्मा हूँ। आत्मा की गुण-सम्पत्ति ही मेरी है। दुनिया की कोई सम्पत्ति मेरी नहीं है। 'सांसारिक व्यक्ति या वस्तु के प्रति जो स्वामित्व का भाव पैदा होता है वह वास्तविक नहीं, किन्तु औपचारिक है।' इस सनातन सत्य की अज्ञानता के कारण ही मोहाधीन आत्मा इष्ट वस्तु या व्यक्ति के संयोग में खुश होती है और उसके वियोग में अत्यन्त दुःखी होती है। परन्तु जिसे इस सनातन सत्य का सम्यग् अवबोध हो गया हो, उसे अनुकूल या प्रतिकूल संयोग-वियोग में कोई हर्ष-शोक नहीं होता है। क्योंकि वह जानता है कि संसार के सभी संयोग, वियोग में परिणत होने वाले हैं। सभी सानुकूल संयोगों के पीछे वियोग की तलवार लटक ही रही है, अतः इन संयोगों में खुश होने की कोई आवश्यकता नहीं है।

ग्रन्थकार महर्षि ने ठीक ही कहा है कि 'संसार के स्वजन श्मसान भूमि में जलांजलि देकर निवृत्त हो जाते हैं।' अनन्त की इस यात्रा में जो हमारे साथी नहीं हैं, उनके राग में डूब जाना कोई बुद्धिमत्ता थोड़े ही है।

सम्यग् बोध को प्राप्त कर तुम्हारी आत्मा में भी वैराग्य-बीज प्रस्फुटित हो, इसी शुभेच्छा के साथ—

—रत्नसेनविजय

19

पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः,
पुनरपि पक्षः पुनरपि मासः।
पुनरप्ययनं पुनरपि वर्षं,
तदपि न मुञ्चत्याशामर्षम् ॥

प्रिय मुमुक्षु 'दीपक' !

धर्मलाभ ।

परमात्म-कृपा से आनन्द है ।

'वैराग्यशतक' ग्रंथ तुमने कण्ठस्थ कर लिया है, जानकर मुझे प्रसन्नता हुई ।

दुनिया में सुख-दुःख की घटमाल चलती रहती है । मेरा तुमसे एक प्रश्न है—

'सुख और दुःख में अधिक भयंकर कौन ?' मुझे लगता है कि स्थूलदृष्टि से तुम यही कहोगे कि 'दुःख अधिक भयंकर है ।' परन्तु सम्यग्ज्ञानी महापुरुषों का जवाब इससे भिन्न ही मिलेगा—वे कहते हैं, 'दुनिया में दुःख से भी अधिक भयंकर सुख है ।' तुम्हें यह जवाब अजीब सा लगेगा, परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से निरीक्षण करोगे तो तुम्हारी आत्मा में से भी अन्त में यही जवाब आएगा ।

दु:ख को सहना कुछ सरल है, परन्तु सुख को सहना/सुख में समत्वभाव धारण करना अत्यन्त कठिन है। दु:ख में समाधि कुछ सरल है, सुख में समाधि अत्यन्त कठिन है।

'तत्त्वार्थ-सूत्र' का स्वाध्याय चल रहा था। अचानक मैं चौंक उठा। अरे! यह क्या? इस सूत्र में सत्कार और अपमान दोनों को परिषह कहा है। क्या कारण होगा? सोचने लगा।

परिषह अर्थात् जिन्हें समतापूर्वक सहन करना है। अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ भगवन्तों की दृष्टि कितनी विशाल और विराट् है! उन्होंने साधु को अपमान के प्रसंग पर सावधान रहने के लिए कहा, उसी प्रकार सत्कार के प्रसंग पर भी सावधान रहने के लिए कहा है। अपमान की तरह सम्मान में भी खतरा है। अपमान में खतरा है—द्वेष भाव का, तो सम्मान में खतरा है—राग भाव का।

किसी ने अपमान किया, तुरन्त क्रोध/गुस्सा पैदा हो जाता है, अतः तीर्थंकर भगवन्तों ने आज्ञा फरमाई—'अपमान में सावधान रहो, हृदय में किसी प्रकार का द्वेष पैदा न हो जाय, उसकी सावधानी रखो। द्वेष भाव आ जाय तो उसका पश्चाताप करो।

उसी प्रकार किसी ने अपना सम्मान किया हो तब अभिमान का खतरा खड़ा हो जाता है। तुरन्त ही मन में यह भाव आ जाएगा—'मैं भी कुछ हूँ।' 'मुझे भी लोग जानते हैं, मेरी भी प्रतिष्ठा है।'

सम्मान के साथ ही प्रतिष्ठा का मोह पैदा हो जाएगा।

सम्मान करने वाले के प्रति राग-भाव पैदा हो जाएगा। अतः भगवान ने आज्ञा फरमाई—'सम्मान की इच्छा मत करो, फिर भी कदाचित् कोई सम्मान कर दे तो तुरन्त सावधान बन जाओ, सम्मान को परिषह समझो और मन में किसी प्रकार का राग-भाव न आ जाय, इसकी पूर्ण सावधानी रखो।

सामान्यतः मोह व अज्ञानता के कारण जीवात्मा को दुःख पर द्वेष और सुख पर राग होता है। दुःख आने पर भी द्वेष न आ जाय और सुख आने पर भी राग न आ जाय, इसके लिए सावधानी रखना, जागृत रहना और प्रयत्नशील बनना, इसी का नाम समाधि की साधना है।

आत्मा के दो कट्टर शत्रु हैं—राग और द्वेष। इन दोनों में राग अधिक भयंकर है।

● द्वेष भौंककर काटने वाला कुत्ता है, जिसके आगमन का पता चल जाता है, हम सावधान बन जाते हैं।

● राग चुपके से चाटकर काटने वाला कुत्ता है, जिसके आगमन का हमें कोई पता ही नहीं चलता, हम सावधान भी नहीं हो पाते हैं और वह हमें काट लेता है।

● द्वेष का स्वरूप रौद्र/भयानक है, अतः हर कोई उसे जल्दी पहिचान लेता है, जबकि राग का स्वरूप सौम्य है, अतः उसको पहिचानना अत्यन्त कठिन है।

● द्वेष का स्वभाव 'कर्कश' होने से उसका तुरन्त खयाल आ जाता है। राग का स्वभाव 'मधुर' होने से मानव उसमें तुरन्त पागल हो जाता है।

इससे सिद्ध होता है कि दुःख में समाधि रखना जितना कठिन है, उससे भी अधिक कठिन सुख में समाधि रखना है।

- दुःख में जो आकुलता-व्याकुलता होती है, 'हाय ! हाय !' करते हैं, उसका तुरन्त पता चल जाता है, जबकि सुख में जो राग भाव होता है, उसका तुरन्त पता ही नहीं चलता है और व्यक्ति राग का गुलाम बन जाता है।

जिस प्रकार बर्फीले पर्वत पर स्थिर रहना अत्यंत कठिन है, उसी प्रकार सुख में समत्व-समाधि रखना भी अत्यन्त कठिन है।

सुख के राग ने भूतकाल में अनेक आत्माओं का पतन किया है।

- याद करो—कंडरीक मुनि को ! एक हजार वर्ष तक चारित्र का पालन करने पर भी, भोजन के राग ने/क्षणिक सुख के राग ने उनकी आत्मा को ७वीं नरकभूमि में धकेल दिया।

- याद करो मम्मण सेठ को ! धन के, सुख के राग के कारण बेचारा ७वीं नरकभूमि में पहुँच गया।

- याद करो संभूति मुनि को ! मासक्षमण के पारणे मासक्षमण की उग्र तपश्चर्या करने वाले तपस्वी मुनि होने पर भी स्त्री-संग के सुख के राग ने उनकी आत्मा का पतन करवा दिया। सात राजलोक ऊपर चढ़ने के बजाय वे सात राजलोक नीचे पहुँच गए।

- याद करो विश्वभूति मुनि को ! उन्होंने शारीरिक शक्ति में सुख माना और संयम-साधना के फलस्वरूप शारीरिक शक्ति की माँग कर दी। काच के टुकड़े के लिए चिंतामणिरत्न को फेंक दिया।

बड़ा ही भयंकर है, खतरनाक है, संसार का सुख ।

सुख आने पर राजी न होना, अनुकूलता मिलने पर राग न करना, अत्यन्त कठिन साधना है ।

सुख के राग, सुख की आसक्ति को तोड़ने के लिए ही जिनेश्वर भगवन्तों ने पुनःपुनः वैराग्यपूर्ण/वैराग्यपोषक ग्रन्थों के स्वाध्याय के लिए आज्ञा फरमाई है । शास्त्रकार महर्षियों ने श्रमणों को प्रतिदिन पाँच प्रहर स्वाध्याय करने के लिए विधान किया है ।

वैराग्यपूर्ण ग्रन्थों के पठन-पाठन से हृदय में वैराग्य भाव दृढ़ बनता है । **'वैराग्यशतक'** एक ऐसा ही श्रेष्ठ ग्रन्थ है, जिसकी एक-एक गाथा में वैराग्य रस भरा हुआ है ।

पुत्र, बंधु व पत्नी के राग भाव को तोड़ने के लिए **'वैराग्यशतक'** ग्रंथ में कहा है—

विहडंति सुआ विहडं-
ति बंधवा वल्लहा य विहडंति ।
इक्को कहवि न विहडइ,
धम्मो रे जीव ! जिरण-भरिणओ ।। १२ ।।

भावार्थ—हे आत्मन् ! इस संसार में पुत्रों का वियोग होता है, बन्धुओं का वियोग होता है, पत्नी का वियोग होता है, एक मात्र जिनेश्वर भगवन्त के धर्म का कभी वियोग नहीं होता है ।

सामान्यतः संसारी जीवों को पुत्र-पत्नी आदि पर अधिक राग होता है, परन्तु मृत्यु द्वारा एक दिन उन सबका वियोग हो जाता है ।

परलोक की यात्रा में कुटुम्ब में से कोई भी साथ आने वाला

नहीं है—इस सनातन सत्य की अज्ञानता के कारण ही आत्मा संसारी-कुटुम्बीजनों के राग में फँसकर धर्म का त्याग कर देती है। प्रसंगवश याद आ जाती है उस श्रेष्ठि-पुत्र की घटना—

संत ने उस सेठ के इकलौते पुत्र को संसार की स्वार्थ-मूलकता का स्वरूप समझाया। परन्तु वह युवान मानने के लिए तैयार नहीं था। अंत में संत ने उसे प्रयोग द्वारा सिद्ध कर समझाया। संत ने कहा—'घर जाकर द्वार पर एकदम नीचे गिर जाना, फिर बोलना-चलना बंद कर देना। किसी प्रकार की औषधि ग्रहण मत करना। संध्या समय मैं आऊँगा। संसार के सबंधियों का तुझे यथार्थ दर्शन कराऊंगा।'

संत के निर्देशानुसार उस युवान ने वैसा ही किया। घर आते ही वह धड़ाम से नीचे गिर पड़ा। चारों ओर हाहाकार मच गया। उसे उठाकर पलंग पर सुलाया गया। अनेक उपचार करने पर भी वह स्वस्थ नहीं हो पाया।

संध्या समय वह संत उस सेठ की हवेली के पास से गुजरा। सेठ ने संत को आग्रह करते हुए कहा—'कृपावतार! मेरा पुत्र अत्यन्त दयनीय स्थिति में है, आप कृपा कर उसका इलाज करें।'

संत ने सेठ की बात स्वीकार कर ली। संत ने एक पानी भरा प्याला मंगाया और धूप-दीप आदि कर पर्दे में बैठकर मंत्र-जाप करने लगा। थोड़ी ही देर बाद संत बाहर आए और बोले, 'आपके इस पुत्र पर पैशाचिक उपद्रव है, मैंने अपनी इस मंत्र-शक्ति से पिशाच को वश किया है, यदि आप इसे बचाना चाहते हो तो कोई भी व्यक्ति यह प्याला पी ले। प्याला पीने वाला व्यक्ति थोड़ी ही देर में मर जायेगा।' संत की यह शर्त सुनकर सभी

एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। किंतु कोई भी व्यक्ति उस प्याले को पीने के लिए तैयार नहीं हुआ।

आखिर संत ने कहा, 'अच्छा, यदि कोई भी तैयार नहीं होता तो यह प्याला मैं पी जाता हूँ।' संत की यह बात सुनते ही सभी खुश हो गए। तत्क्षण संत ने वह प्याला पी लिया। उसी समय श्रेष्ठि-पुत्र भी शय्या पर से खड़ा हो गया और संत के साथ-साथ चलने लगा। पुत्र को संत के पीछे जाते देख सभी उसका हाथ पकड़ कर कहने लगे, 'बेटा! तू कहाँ जाता है? तेरे बिना हम कैसे जीवित रहेंगे?' युवान ने कहा, 'मैंने आपका स्नेह पहिचान लिया है, आपका प्रेम स्वार्थ से भरा हुआ है, अब मैं निःस्वार्थ प्रेम करने वाले संत के साथ जाऊँगा'—इतना कहकर वह युवान संत के साथ चल पड़ा।

मुमुक्षु 'दीपक'!

संसार के संबन्धी मोहवश होकर यही बात करते हैं कि 'तेरे बिना हम कैसे रहेंगे?' परन्तु याद रखना, मृत्यु के समय उनमें से कोई साथ चलने वाला नहीं है।

जीवन का सच्चा साथी जिनधर्म ही है। वही परलोक में साथ देने वाला है, जिसने जिनधर्म को स्वीकार किया है, उसे मृत्यु का कोई भय नहीं रहता है। उसके लिए तो मृत्यु भी एक महोत्सव बन जाता है।

मृत्यु को महोत्सव बनाना है न! तो इस अमूल्य जीवन में जिनधर्म की सम्यग् साधना को अपना लक्ष्य बनाओ, उसी में आत्म-हित है।

—रत्नसेनविजय

प्रकाशन-परिचय

'नमस्कार महामंत्र' के सूक्ष्म तत्त्वचिन्तक,
अध्यात्मयोगी निस्पृहशिरोमणि पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री के
तात्त्विक और सात्त्विक हिन्दी-साहित्य का—

सरल-परिचय

१. महामंत्र की अनुप्रेक्षा—मूल गुजराती भाषा में आलेखित इस पुस्तक की गुजराती भाषा में तीन आवृत्तियाँ प्रकट हो चुकी हैं। हिन्दी-भाषा में भी दो आवृत्तियाँ प्रगट हुई हैं।

'नमस्कार महामंत्र' के अगाध चिन्तन-सागर में अवगाहन करने के बाद पूज्यपादश्री को जो चिन्तन-मोती प्राप्त हुए....उन्हीं चिन्तन-मोतियों की माला का दूसरा नाम 'महामंत्र की अनुप्रेक्षा' है। 'नमस्कार-महामंत्र' शब्द से छोटा है, परन्तु वह अर्थ का महासागर है।

तत्त्व-जिज्ञासुओं के लिए यह पुस्तक अवश्य पठनीय और मननीय है।

मूल्य : बीस रुपये

२. परमात्म-दर्शन—पूज्य की पूजा करने से अपनी आत्मा भी पूज्य/पवित्र बनती है। परमेष्ठी के प्रथम पद पर विराजमान तारक तीर्थंकर परमात्मा का स्वरूप क्या है? —उनका हम पर कितना असीम उपकार है? उनकी पूजा से क्या फायदे हैं? —इत्यादि अनेकविध विषयों पर मार्मिक विवेचन इस पुस्तक में किया गया है।

मूल्य : पाँच रुपये

३. **प्रतिमा पूजन**—क्या प्रतिमा पूजनीय है ?

प्रतिमा की पूजा करने से क्या हमें कुछ लाभ हो सकता है ?

क्या वीतराग की प्रतिमा की पूजा अनिवार्य है ?

इत्यादि शताधिक प्रश्नों के जवाब के साथ-साथ प्रतिमा-पूजन की प्राचीनता सम्बन्धी विस्तृत जानकारी इस पुस्तक से मिलती है।

सत्य-जिज्ञासु आत्मा के लिए यह पुस्तक अवश्य पठनीय है।

मूल्य : आठ रुपये

४. **नमस्कार मीमांसा**—पूज्यपादश्री की यह भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। विशाल शासन-समुद्र के अवगाहन के बाद, नमस्कार महामंत्र की महत्ता को सिद्ध करने वाले अनेक छोटे-बड़े लेखों का संग्रह अर्थात् नमस्कार मीमांसा।

इस पुस्तक में १२३ छोटे-बड़े निबन्ध हैं। थोड़े से शब्दों में पूज्यपादश्री ने बहुत कुछ कह दिया है। सचमुच, ये निबन्ध गागर में सागर का काम करते हैं।

मुमुक्षु आत्मा के लिए इसका स्वाध्याय बहुत जरूरी है।

मूल्य : आठ रुपये

५. **चिन्तन के फूल**—धर्म का स्वरूप, सुख का स्वरूप, अनेकांतवाद, मैत्री भावना, आनन्द की शोध आदि-आदि अनेक चिन्तनात्मक लेखों का संग्रह इस पुस्तक में उपलब्ध है। जैनदर्शन के हार्द को समझने के लिए यह पुस्तक अत्यन्त ही उपयोगी है।

मूल्य : पाँच रुपये

६. परमेष्ठि-नमस्कार—में नमस्कार महामंत्र की सर्वश्रेष्ठ, उपादेयता नवकार में नवरस, नमस्कार महामंत्र का उपकार, नमस्कार महामंत्र की व्यापकता इत्यादि अनेक विषयों पर शास्त्रीय व आकर्षक शैली में वर्णन किया गया है। नमस्कार महामंत्र की श्रद्धा के दृढ़ीकरण के लिए यह पुस्तक अत्यन्त ही उपयोगी है।

यह पुस्तक फिलहाल अनुपलब्ध है। पुनःप्रकाशन की योजना है।

७. चिन्तन की चांदनी—पूज्यपादश्री ने राजस्थान की मरुधरा में स्थिरता दरम्यान नमस्कार महामंत्र पर जो प्रवचन किये थे, उन्हीं प्रवचनों का संकलन प्रस्तुत पुस्तक में उपलब्ध है। पुस्तक अत्यन्त सरल रोचक शैली में लिखी गई है। पठनीय है।

मूल्य : छह रुपये

८. जैन-मार्ग परिचय—जिनेश्वर परमात्मा के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग 'जैन-मार्ग' कहलाता है।

'जैन-मार्ग' की साधना द्वारा किस प्रकार आत्मा की पूर्णता प्राप्त की जा सकती है, इसका सरल व श्रेष्ठ उपाय प्रस्तुत पुस्तक से प्राप्त होता है।

पुस्तक फिलहाल अप्राप्त है। पुनःप्रकाशन की भावना है।

९. चिन्तन की चिनगारी—इस पुस्तक में मैत्री आदि भाव सम्बन्धी अनेक लेख हैं। आत्मा के अभ्युत्थान के लिए जीवन में मैत्री आदि भावों को किस प्रकार आत्मसात् किया जाय, उसका सहज व सरल मार्गदर्शन प्रस्तुत पुस्तक में है। इसके साथ जीवन-स्पर्शी अनेक विषयों पर भी इसमें सुन्दर चर्चा की गई है।

मूल्य : चार रुपये पचास पैसे

१०. चिन्तन का अमृत—सचमुच, इस पुस्तक का स्वाध्याय करते समय अमृत के आस्वादन की अनुभूति हुए बिना नहीं रहती। विषमय भौतिक जीवन को किस प्रकार अमृतमय बनाया जा सकता है, ऐसे अनेक निबन्ध इस पुस्तक में संगृहीत होने से यह पुस्तक मुमुक्षु व आराधक आत्मा के लिए अवश्य पठनीय/मननीय है।

मूल्य : सात रुपये

११. आपके सवाल-हमारे जवाब—इस पुस्तक में आत्मा, कर्म, पुण्य, पाप, परलोक, मोक्ष, महामंत्र तथा प्रतिक्रमण आदि विषयों से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों के तर्कबद्ध जवाब दिये गए हैं। पुस्तक को पढ़ने से दिमाग में रहे अनेक प्रश्नों के समाधान स्वतः हो जाते हैं।

मूल्य : सात रुपये

१२. समत्वयोग की साधना—लोकोत्तर जनशासन में समता का अत्यधिक महत्त्व है। समता ही मोक्ष का अनन्य कारण है। इस पुस्तक में समता विषयक अनेक लेखों का सुन्दर संकलन है। समतारसिक मुमुक्षु आत्माओं के लिए यह पुस्तक एक सुन्दर पाथेय का काम करेगी।

मूल्य : बारह रुपये

मुनिश्री रत्नसेन विजयजी महाराज द्वारा विरचित अन्य कृतियों का

संक्षिप्त परिचय

•

१. **वात्सल्य के महासागर**—इस कृति में अध्यात्मयोगी नमस्कार महामन्त्र के अनन्य साधक स्वर्गस्थ पूज्यपाद गुरुदेव पंन्यास-प्रवर **श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री** के विराट् जीवन का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। पुस्तक अवश्य पठनीय है।

•

२. **सामायिक सूत्र विवेचना**—इस पुस्तक में लेखक ने 'नमस्कार महामन्त्र' से लेकर 'सामाइयवयजुत्तो' तक के सूत्रों पर विस्तृत विवेचन किया है। भाषा-शैली आकर्षक है।

•

३. **चैत्यवन्दन सूत्र विवेचना**—देवाधिदेव वीतराग परमात्मा के भाव-पूजा सम्बन्धी सूत्रों पर इस पुस्तक में सुन्दर विवेचन किया गया है। परिशिष्ट के अन्तर्गत 'प्रभु-दर्शन-पूजन विधि' का भी उल्लेख होने से यह कृति अत्यन्त प्रिय बनी है।

•

४. **श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र विवेचना**—प्रतिक्रमण अर्थात् पाप से पीछे हटना। प्रतिक्रमण एक यौगिक-साधना है, जगत् के जीवों के साथ टूटे हुए सम्बन्ध को प्रतिक्रमण द्वारा पुनः जोड़ा जाता है। प्रतिक्रमण, साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका के जीवन का एक आवश्यक अंग है। प्रस्तुत कृति में प्रतिक्रमण की विस्तृत जानकारी दी गई है, साथ में ही **श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र, वंदित्तु सूत्र** पर विस्तृत विवेचन है। श्रद्धालु श्रावक जन के लिए यह कृति अवश्य प्रेरणास्पद है।

•

५. आनन्दघन चौबीसी विवेचना—योगिराज आनन्दघनजी के नाम से भला कौन अपरिचित होगा ? अध्यात्म की मस्ती में लीन बने आनन्दघनजी म. द्वारा विरचित चौबीस स्तवनों पर प्रस्तुत कृति में सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जो अवश्य मननीय है। भाषा व शैली रोचक व सुगम है।

•

६. कर्मन् की गत न्यारी—एक शीलवती सन्नारी के पवित्र जीवन पर प्रकाश डालने वाली प्रस्तुत कृति अवश्य पठनीय है। कर्म-संयोग से जीवन में आने वाली आपत्तियों को समतापूर्वक सहन करने वाली महासती मलयसुन्दरी का जीवन अनेकविध प्रेरणाओं से भरा-पूरा है।

•

७. मानवता तब महक उठेगी—जीवन में आत्मोत्थान की साधना में आगे बढ़ने के लिए सर्वप्रथम 'मानवता' की नींव को मजबूत करना अनिवार्य है। नींव ही यदि कमजोर हो तो इमारत का निर्माण कैसे हो सकता है ? प्रस्तुत कृति में जीवन में 'मानवता' के अभ्युत्थान के लिए उपयोगी गुणों का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इसी वर्ष प्रकाशित प्रस्तुत कृति के संदर्भ में अनेक अभिप्राय प्राप्त हुए हैं।

•

८. मानवता के दीप जलाएँ—'मानवता तब महक उठेगी' पुस्तक की ही अगली कड़ी यह पुस्तक है। इस पुस्तक में मानवता के विकास में उपयोगी १४ गुणों का मार्मिक वर्णन है। पुस्तक में दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में गुणवर्णन और द्वितीय खण्ड में प्रेरक प्रसंग हैं। युवा जगत् के लिए यह पुस्तक प्रेरणा का महान् स्रोत है।

•

९. आलोचना सूत्र विवेचना—विद्वद्वर्य लेखक मुनिश्री ने नवकार से लेकर 'वेयावच्चगराणं' तक के सूत्रों का विस्तृत विवेचन 'सामायिक सूत्र विवेचना' और 'चैत्यवंदन सूत्र विवेचना' पुस्तक में किया था। उसके बाद के सूत्रों का (वंदित्तु के पूर्व तक) विवेचन प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। अठारह पापस्थानक का लाक्षणिक शैली में विस्तृत विवेचन अवश्य ही पढ़ने योग्य है।

●

१०. जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है—लेखक मुनिश्री ने प्रस्तुत पुस्तक में ऐतिहासिक तीन चरित्र-नायकों के अद्भुत और रोमांचक जीवन-दर्शन को बहुत ही आकर्षक शैली में प्रस्तुत किया है। 'माँ हो तो ऐसी हो' चरित्र कहानी सच्चे मातृत्व की पहचान कराने वाली है। शासन की रक्षा के लिए अपना जीवंत बलिदान देने की तैयारी बताने वाले 'प्रभावक सूरिवर' का चरित्र हम में नया उत्साह और जोश भरे बिना नहीं रहता····और अन्त में 'ब्रह्मचर्य-प्रभाव' कहानी, जिसमें महामंत्री पेथड़शाह की जिंदगानी को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है, हमें ब्रह्मचर्य की महिमा समझाती है। पुस्तक अवश्य पठनीय है।

●

११. चेतन ! मोह नींद अब त्यागो—महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी विरचित 'चेतन ज्ञान अजुवालीए' सज्झाय का विस्तृत विवेचन अर्थात् 'चेतन ! मोह नींद अब त्यागो'। अनादि की मोह निद्रा में से आत्मा को जागृत करने के लिए महोपाध्यायश्री की कृति के अनुसार लेखक मुनिश्री ने बहुत ही सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है, जो अवश्य पठनीय है। सम्भव है कि इस पुस्तक के वाचन से आपकी मोह निद्रा दूर हो जाय।

□

मत-सम्मत

पुस्तक : जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है

(१) 'प्रेरक कथाओं केमाध्यम से सुन्दर प्रतिपादन प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। प्रकाशन-सम्पादन व्यवस्थित है। हिन्दीभाषी क्षेत्रों में यह पुस्तक उपयोगी बनेगी। धार्मिक कथा-साहित्य का हिन्दी में प्रकाशन आवश्यक है। मुनिश्री का यह प्रयास अनुमोदनीय है।'

—पूज्य आचार्यप्रवर श्री पद्मसागर सूरीश्वरजी म.

(२) **तीन पठनीय चरित्र-कथाएँ**—मुनि रत्नसेन विजयजी की पुस्तकें पूरी तरह जन-जीवन से जुड़ी होती हैं। वे स्वप्निलता या काल्पनिकता में विश्वास नहीं करतीं बल्कि किसी ठोस धरती पर जीवन को बदलने का अविचल संकल्प रखती हैं। आलोच्य कृति में तीन चरित्र-कथाएँ हैं : सरल, सरस, सुबोध, संबोधक। ये हैं : माँ हो तो ऐसी हो, प्रभावक सूरिवर, ब्रह्मचर्य का प्रभाव। हमें विश्वास है इनके भीतर पैठी नैतिक ऊर्जा प्रकट होगी और उन लोगों को जो अंधे ढंग से परम्परित हैं और जो धर्म-की-धरा को तर्क-के-हल से अभी पूरी तरह खेड़ नहीं पाये हैं—नवार्थ प्रदान करने में सफल होगी। **—नेमीचन्द जैन**

(तीर्थंकर मासिक, अगस्त १९८८)

(३) हिन्दी भाषा में प्रकाशित प्रस्तुत कृति में तीन ऐतिहासिक कथाएँ विस्तृत रूप में शब्दस्थ बनी हैं। प्रथम वार्ता श्री आर्यरक्षित की है। ८ प्रकरणों के अन्तर्गत—माता कैसी होनी चाहिये ? का प्रेरक शब्दचित्र उपस्थित किया गया है। दूसरी श्री पादलिप्तसूरिजी की कथा ५ प्रकरणों में विभक्त है। तीसरी कथा पेथड़शाह की है, जिसमें ५ प्रकरणों में ब्रह्मचर्य के प्रभाव का सुन्दर वर्णन है। इस प्रकार ये तीन कथाएँ सुन्दर व रसप्रद शैली में हिन्दी में आलेखित होने से यह प्रकाशन कथारसिकों के लिए तो अत्यन्त ही उपयोगी बनेगा। लेखक मुनिश्री की साहित्य-यात्रा चिन्तन-विवेचन के क्षितिजों को पार कर कथा-विषय की ओर आगे बढ़ रही हैं—उसका सुस्वागत है। —कल्याण मासिक, जून १९८८

जीवन में नैतिक जागरण और सन्मार्ग-प्राप्ति
के लिए परम पूज्य मुनिप्रवर

श्री रत्नसेन विजयजी म.

का सरल, सरस व सुबोध
साहित्य अवश्य पढ़ें —

१.	वात्सल्य के महासागर	४.००
२.	सामायिक सूत्र विवेचना	५.००
३.	चैत्यवन्दन सूत्र विवेचना	अप्राप्य
४.	आलोचना सूत्र विवेचना	६.००
५.	वंदित्तु सूत्र विवेचना	५.००
६.	आनन्दघन चौबीसी-विवेचन	२०.००
७.	कर्मन् की गति न्यारी (धारावाहिक कहानी)	८.००
८.	मानवता तब महक उठेगी	७.००
९.	मानवता के दीप जलाएँ	८.००
१०.	चेतन! मोह नींद अब त्यागो	९.००
११.	जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है	८.००
१२.	मृत्यु की मंगल यात्रा	९.००
१३.	युवानो ! जागो	६.००
१४.	शान्त-सुधारस हिन्दी-विवेचन	प्रेस में

©Reliable

मुद्रक : ताज प्रिन्टर्स, जोधपुर।

RELIABLE CALENDAR CALCUTTA 530

PRINTED IN INDIA